वनिता

डॉ वेदव्रत शर्मा

जीवन एक बहती धारा है। यह धारा जन्म-जन्मांतरों के विकास की है। विकास की कहानी में हमारा अतीत छिपा है।

वनिता विश्वविद्यालय की एक मेधावी छात्रा है। प्रो. चटर्जी से उसे कब और कैसे प्रेम हो गया, यह रहस्यात्मक है। प्रो. चटर्जी भी अन्यमनस्क रहते हैं। क्या प्रो. चटर्जी वनिता से सचमुच प्रेम करते हैं? यह द्विविधात्मक प्रश्न है। फिर भी, स्थिति संदेहास्पद है। उनकी व्यथा पत्रों का रूप लेती है। क्या यह व्यथा प्रो. चटर्जी की है अथवा एक लेखक के काल्पनिक विचार हैं।

विक्षिप्त वनिता हिरण्यवती में अपनी व्यथा के चरम् रूप को देखती है और वह उसे एक वैरागिन प्रतीत होती है। यह वैराग्य उसे विह्वल कर देता है।

यत्र-तत्र बिखरे हुए अनेक प्रसंग मार्क्सवाद, लोकतंत्र और अध्यात्मवाद का आचमन कराते हैं।

प्रेम और वासना का स्पष्ट अन्तर श्रेष्ठतम ही नहीं है बल्कि अन्यत्र दुर्लभ है।

भिखारिन के चित्रण में समाज, शासन और विनोबा पर एक तीखा प्रहार है।

रजिया और फणीन्द्र की कहानी दो दिलों की एकता की अभिव्यक्ति है। "दिलों की एकता" धार्मिक संकीर्णता में नहीं बंधती। धर्म की दीवार लांघकर रजिया प्रेम का एक नया इतिहास लिखती है। यह इतिहास "अनेकता में एकता" का है।

भिक्षुक के रूप में प्रो. चटर्जी वनिता से मिलते हैं। वे अपने अतीत को दोहराते हैं।

गौतम कैसे बागी हो गया? उसकी बहिन की चिता धू-धू जल रही थी। कैसे एक कन्या अनुप्रेरक बनी? "कर्म का गणित ही जन्म-जन्मांतरों का गणित है," कन्या इस व्याकरण को बताती है और गौतम डकैती के जीवन को छोड़ देता है। तदुपरान्त एक शिक्षक का जीवन।

और फिर, बौद्ध भिक्षु और वनिता चले गए
हिमालय की ओर क्रूर काल की खोज में।

वनिता

डॉ वेदव्रत शर्मा
डी लिट्
भूतपूर्व रीडर एवं अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग,
जे.एस.हिन्दू कॉलिज, अमरोहा (उ.प्र.)

लक्ष्मी प्रकाशन संस्थान

लक्ष्मी प्रकाशन संस्थान

पंजीकृत कार्यालय : राहुल एपार्टमेन्ट,
5-ए, राजगढ़ कोठी, मंजिल नं. 2,
फ्लेट नं. 9, गीता भवन मार्ग,
इन्दौर – 452 001 (म.प्र.)
दूरभाष – 492446 टेलेक्स : 0735-4450
फेक्स : 91-731-24519

मुख्य कार्यालय : जट बाजार, अमरोहा– 244221
जनपद, मुरादाबाद (उ.प्र.)

संस्करण : प्रथम 1991

मूल्य : रु. 83=00

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी,
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर

अक्षर-रचनाकार : अक्षर रचना (इन्दौर)
306, शीबा कॉम्प्लेक्स, तीसरी मंजिल,
562, एम.जी. रोड, इन्दौर

आमुख

यह उपन्यास मैंने १९६३-६४ में लिखा था जिसे अब प्रकाशित कर रहा हूँ।

यह श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि यह बहुरूपी है।

मैं विषमताओं से जकड़े राष्ट्र की काया में ऐसे रंग भर देना चाहता था जिससे इसे एक सांस्कृतिक धरातल मिले। यह अतीत की श्रेष्ठता लिए आधुनिकता का आचमन करे। प्रत्येक काल और उससे जन्मित संस्कृति अपने गुण-दोषों का दर्पण होती है। कोई भी संस्कृति पूर्ण नहीं है क्योंकि मानव स्वयमेव अपूर्ण है। उसकी अनवरत विकास- प्रक्रिया पूर्णता की ओर है। अतः यह दम्भ भरना कि हम पूर्ण हैं और हमारी संस्कृति पूर्ण है एक अवैज्ञानिक तर्क, विचार और प्रतिफल है। अहिंसा, शान्ति और सहयोग इस विकास के आवश्यक सोपान हैं। यह भौतिक दृष्टि से एक अग्रणी राष्ट्र बने किन्तु अपने सांस्कृतिक लंगर को थामे हुए विकास के उच्चतम स्तरों को छुए। आवश्यक है कि इसके मानसिक कपाट सदैव खुले रहें।

वस्तुतः सांस्कृतिक स्थायित्व के साथ-साथ आज सर्वाधिक आवश्यकता आत्म-विश्लेषण की है। विचारणीय प्रश्न यह है कि एक संस्कृति ने कैसे मानव का निर्माण किया है। क्या उसने भद्दे, गंदे और तंग कपड़े उतार दिए हैं और वह नए परिधान में सज्जित होकर अन्तर्राष्ट्रीय विकास के लिए संकल्पित है? वे व्यक्ति, समाज, प्रजातियाँ और राष्ट्र संकीर्ण हैं जो एकमेव अपने तक सीमित हैं। कभी समूहों, प्रजातियों और राष्ट्रों के पराभव ने विजेता को गौरवान्वित किया होगा किन्तु ऐसा करके वह अनाध्यात्मिकता की ओर बढ़ा, उसने संघर्ष को पैदा किया और अनैतिकता के लिए इतिहास के पृष्ठों को रंगा जो उसके अट्टहास का कारण बना। यह क्षणिक सुखानुभूति अल्पकालीन ही रही।

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव एक नैतिक प्रश्न है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' नैतिकता की अभिव्यक्ति है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में न तो हिंसा है और न संघर्ष, न उच्चता है और न निम्नता, न आर्थिक असमानता है और न राजनीतिक कूटनीतिज्ञता- स्वामित्व, न धार्मिक उन्माद, जेहाद और संकीर्णता, न प्रजातीय एवं राष्ट्रीय गौरव।

यह विशुद्धतः एक सांस्कृतिक एकत्व का प्रयास है।

उपन्यास को रोचक बनाने के लिए मैंने रसिक कथाओं के जाल बुने जिससे पाठक सहज जिज्ञासा और आकुलता लिए आद्योपान्त इसका रसास्वादन कर सके।

वनिता विश्वविद्यालय की एक प्रतिभावान छात्रा है। प्रो. चटर्जी से उसका प्रेम अस्पष्ट-सा है। फिर भी, उसके अनेक लक्षण उसके प्रेम को उजागर करते हैं।

क्या प्रो. चटर्जी वनिता से प्रेम करते हैं? यह भी एक द्विविधात्मक प्रश्न है किन्तु उनकी व्यथा जो प्रेम-पत्रों का रूप ले लेती है, एक संदेह का निवारण कर देती है। फिर भी, यह व्यथा एक लेखक के रूप में काल्पनिक तो नहीं है, यह शंका सम्पूर्ण उपन्यास में बनी रहती है।

इन प्रेम-पत्रों से अनेक कथाएं जुड़ी हैं।

उपन्यास में यत्र-तत्र मार्क्सवाद के विचार बिखरे पड़े हैं। वर्ग- विहीन समाज की मार्क्स की कल्पना ने उसे उच्चकोटि का जनवादी बना दिया है। उसका सम्पूर्ण चिन्तन मानव के लिए है। शताब्दियों से शोषण-प्रक्रिया से जूझते हुए मानव को विमुक्त करने के लिए वह उन्हें वर्ग-संघर्ष के लिए आह्वानित करता है। यह प्रश्न भौतिक की अपेक्षा नैतिक एवं मानवीय अधिक है।

सोवियत सिद्धान्तकार यदि मार्क्सवाद के इस नैतिक तत्व को अपनाते तो वे विश्व इतिहास के सजीव पात्र बने रहते। सर्वहारा की तानाशाही तो एक पड़ाव मात्र थी किन्तु उन्होंने इसे दीर्घकाल तक बनाए रखकर मार्क्सवाद को भ्रष्ट कर दिया और इस भ्रष्टता ने उन्हें धूलित कर दिया।

सोवियत रूस में आज मानव रोटी, कपड़ा और मकान के लिए जूझ रहा है।

यह उपन्यास इस समस्या पर भिखारिन-कथा का चित्रण करके भारत में प्रतिष्ठित समाजवाद की अर्थहीनता को उजागर करता है।

सभी नैतिक प्रवचन अमहत्वपूर्ण। संघर्ष में मार्क्सवाद की अर्थपूर्णता। जनतंत्र क्षुधा के समक्ष तिरस्कृत एवं अस्वीकृत। भूख व्यक्ति को अनैतिकता का जामा पहना देती है। और समाज तथा उसके द्वारा गठित न्यायालय उसे फिर भी, अपराधी घोषित करते हैं। उसके प्रति मानव और प्रभु की न्यायप्रियता प्रश्न चिन्हित है।

वनिता हिरण्यवती को नाना रूपों में देखती है किन्तु इन विविध रूपों का सारांश यही है कि मानव अपनी लघुता को देखे और अपनी हीन भावनाओं से उभरे। मानव की विवेक सम्पन्नता उसे उच्च और नैतिक नहीं बना सकी। नैतिकता जड़ और चेतन जगत् में मानव की अपेक्षा अधिक है।

उपन्यास में भ्रष्ट राजनीति को उभारा ही नहीं है प्रत्युत गौतम बुद्ध को एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है जिससे राष्ट्र के कर्णधार त्याग के जीवन को अपनाएं और राष्ट्रीय राजनीति आध्यात्मिक बने।

प्रेम और वासना जीवन की यथार्थता का चित्रण है। सम्पूर्ण प्रकृति में वासना ही तो व्याप्त है और वह भी अनियंत्रित। उपन्यास इस महत्वपूर्ण तथ्य का प्रकाशन करता है कि प्रेम एक नैतिक विचार है और वासना एकमेव क्षणिक भौतिक परितुष्टि और यदा-कदा जघन्य कृत्यों की अभिव्यक्ति। यह स्पष्ट अन्तर इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण अनुदाय है।

रजिया और फणीन्द्र की कथा राष्ट्र में एकता का निर्माण करती है। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न के द्वारा धर्म की व्याख्या करना है। यह अत्यधिक सामाजिक प्रश्न है जबकि यह धर्म की चादर लपेटे है। धर्म के मूल्यांकन का आधार उसकी नैतिकता है न कि परस्पर संघर्ष, घृणा, विनाश, संकीर्णता और राजनीतिक कूटनीतिज्ञता। इसका विशुद्ध रूप एकता, समरसता और आत्मागतता है जो प्रजाति अथवा धर्म की विविधता में नहीं बंधती।

वनिता से बौद्ध भिक्षु की भेंट एक नए अध्याय का सूत्रपात करती है। बौद्ध भिक्षु अपने अतीत को दोहराता है।

उच्च सत्ताशील वर्ग की निरंकुशता। डकैत क्यों पैदा होते हैं? आदि महत्वपूर्ण प्रश्न इस उपन्यास की विषय-वस्तु हैं। इस समस्या का समाधान इस उपन्यास का वैशिष्ट्य है।

हिमालय की ओर बढ़ते हुए कदम, इस उपन्यास की चरमावस्था है। अनेक प्रश्न हैं जो चिन्तन के लिए विवश करते हैं - मानव का क्रूर काल अथवा ईश्वर से संघर्ष। क्या यह नैतिक संघर्ष है? अथवा 'मृत्यु' को एक 'विकास-प्रक्रिया' की संज्ञा देकर नतमस्तक हो जाना चाहिए अथवा 'प्रभु-लीला' से इसे विभूषित करके सम्प्रभु-सत्ता को स्वीकृति दे देनी चाहिए, यदि ऐसा है तो फिर खोज किसकी? अथवा सम्पूर्ण प्रकृति एक 'विकास-प्रक्रिया' में है, यही पर्याप्त है।

फिर भी, हिमालय की ओर बढ़ते हुए कदम खोज के प्रतीक हैं, आत्म- समर्पण के नहीं।

तथागत का 'निर्वाण-पथ' अतृप्ति का एक दर्शन ही रहा। उनकी खोज भी अर्थहीन ही रही।

अन्ततः प्रकृति (हिमालय) ही प्रेरक बनी।

अमरोहा,
जनवरी 1992

वेदव्रत शर्मा

अध्याय – 1

वनिता बंगाली टोले में रहती है। छोटे दो भाई, एक बहिन, मम्मी और डैडी - यही है उसका छोटा-सा सुखी, सम्भ्रान्त परिवार। विश्वविद्यालय की मेधावी छात्रा है वह, और अर्जित की है पर्याप्त लोकप्रियता अपनी कला के कारण। लेकिन अब कुछ हो गया है उसे। कभी वह अपनी शरीर-सम्पत्ति को सजाती थी, केश-विन्यास में दिलचस्पी लेती थी और नाना रूपों में सजधज कर आती थी किन्तु अब अनमनी-सी, बिखरे बाल, अपने ही विचारों में डूबी हुई और खोई-खोई-सी रहती है, न जाने क्यों? प्रोफेसर चटर्जी के पास वह शुरू से ही अधिक आती-जाती है। शायद पढ़ने की प्यास, अच्छी श्रेणी की भूख उसे वहाँ ले गयी है। उसकी यह अन्यमनस्कता बढ़ती ही गयी और एक दिन विवश होकर मैंने कहा, "वनिता, तुम्हारी इस उदासी का कारण क्या मैं जान सकती हूँ?" वह शान्त, स्थिर और एकटक देखती रही कुछ क्षण, और फिर जो उसकी आँखों में बरसाती बाढ़ आयी तो आती ही रही। मैं अभिभूत हो उठी। मैंने बहुत कोशिश की जानने की किन्तु वह मूक रही और फिर चुपचाप चली गयी। उसके अन्तस्तल की पीड़ा ने मुझे द्रवित कर दिया। मैं व्यथित हो उठी उसकी इस मानस-ग्रन्थि को सुलझाने के लिए। क्यों? क्योंकि हम दोनों हमजोली हैं। हमने साथ-साथ अनेक कक्षाएँ उत्तीर्ण ही नहीं कीं बल्कि मधुर गीत गाएं हैं बचपन और जवानी के। और बचपन का वह स्मित हास्य एवं चांचल्य जो सबकी आँख का कभी कांटा था आज अनायास तारुण्य के प्रथम सोपान पर खड़ा होकर रूप की धूप को बखेरता और इठलाता है। और अब तो दोनों की सन्निकटता इतनी बढ़ गयी है कि कोई बात छिपती ही नहीं है।

अगले दिन चिक उठाकर मैंने देखा प्रोफेसर चटर्जी अपने कक्ष में बैठे थे। वे कुछ लिख रहे थे। उनकी मेज पर ढेर-सी किताबें रखी थीं - कुछ खुली और कुछ बन्द। मैंने कहा, "क्या मैं अन्दर आ सकती हूँ?"

"आइए।" उन्होंने बिना देखे ही उत्तर दिया।

मैं उस बड़ी-सी गोल मेज के पास खड़ी हो गयी किन्तु वे लिखने में व्यस्त थे। मैंने फिर उन्हें डिस्टर्ब किया और कहा, "प्रोफेसर साहब।"

उन्होंने विहंगम दृष्टिपात किया मुझ पर और बोले, "अनु, क्या काम है?"

उनकी आँखों की हल्की-सी तरलता ने मुझे विह्वल कर दिया। मैं चिन्तित हो उठी और वे छिपा न सके अपने आकुल, उमड़ते भावों को। उनकी आँखें भर आयीं और बोले, "मैं व्यस्त हूँ, अनु, फिर आना।"

मैं चली आयी निराश और बेचैन। वनिता मेरे पास आयी और बोली, "क्या प्रोफेसर चटर्जी अपने कक्ष में हैं?"

"हैं।"

वह चलने लगी। मैंने कहा, "वहाँ जाना नहीं।"

"क्यों?"

मैंने जो देखा था, कह डाला। वह उदास हो गयी और विचारों में डूब गयी। सहसा उसकी उन बड़ी-बड़ी आँखों से गोल-गोल मोती ढुलक पड़े। मेरा अनुमान गलत नहीं निकला। मैंने उसके आँसू पोंछते हुए कहा, "मैं घर चलूंगी आज तेरे साथ। वहीं सब बातें होंगी। चलो, इस पीरियड में मेरे साथ बैठी रहना।"

"तुम जाओ पीरिअड अटेन्ड करने। मुझे प्रो. चटर्जी के पास जाना है। उनसे स्टेटिस्टिक्स की किताब लेनी है और सुनो, तुम पीरिअड के बाद, घर चली आना।"

जब मैं घर पहुंची तो वनिता कुछ पढ़ रही थी। मैंने उसके हाथ से उन पेपर्स को खींचते हुए कहा, "क्या पढ़ रही हो?" उसने छीनने की कोशिश की किन्तु वह ले न सकी। मैं पढ़ने लगी, "किसी बौद्ध विद्यापीठ में, अनजाने में, तुम्हें सुना और निहारा तुम्हारे रूप को। तुम्हारी वाणी, शैली और भोलेपन ने अचानक बरबस खींच लिया जैसे भंवर खींच लेती है जल-क्रीड़ा में किसी निपट अज्ञानी को। किसी से कहा, "उदीयमान है। तरुणाई रूप निखार देगी, प्रखर बना देगी वाणी को और शैली मंझ जाएगी अधिक दिनों का भार लेकर।" बात केवल इतनी थी और फिर लम्बी अवधि का एक पूर्ण विराम। कभी सुना नहीं। शायद रंगमंचों पर कभी देखा हो। किन्तु मेरे लिए अपरिचिता बनी रहीं, हो सकता है बाह्य रूप साज-सज्जा के कारण। कुछ जान-पहचान बढ़ी उन्हीं के यहाँ से, किन्तु कोई विशेष नहीं। शायद मेरे प्रति आदर बना रहा, क्यों? कह सकता नहीं। यह केवल मेरी अपनी अनुभूति है।

अचानक विश्वविद्यालय में प्रवेश। आरम्भ में कोई विशेष हलचल नहीं। लेकिन जैसे धूप बढ़ी वैसे सामीप्य भी बढ़ा। शायद अधिकार दे दिया प्रत्येक विषय का। आधिकारिक बात। केवल मेरी सम्मति। अनुदिन किसी न किसी बहाने मुलाकात कर लेना। एकमात्र शुभचिन्तक बना दिया गया। मेरी प्रत्येक बात को महत्व, कार्यान्विति और फिर उन्मुक्त प्रशस्ति। इस प्रकार अधिष्ठित किए जाने का क्या आधार, मैं नहीं जानता? लेकिन वेतन रूप देता रहा। रेशमी लहरें बनाती हुई मेघशैली के बीच चांद का टुकड़ा कब पला, कैसे बढ़ा और निखरा, नहीं जानता? लेकिन जानने की प्रबल इच्छा बनी रही। विकसित ललाट, सीप-सी भारी, खुली और उन्मादी आँखें जिनमें बहुत बड़ा जादू है जो बना देती हैं मदहोश और बेसुध। भोले मुखमण्डल पर सुन्दर नाक बिना किसी बाह्य आडम्बर के और ओठ नपे-तुले जो बरसों का भार लेकर मचलते हैं। दांतों की सुन्दर पंक्ति जो बरबस विमुग्ध कर लेती है। इकहरा बदन जो सौन्दर्य को समेटे है और हाड-मांस में छिपा उनका 'नन्हा दिल' शायद उन्होंने कभी अपने दिल को 'नन्हा' कहा था, मजाक ही नहीं करता, परेशान भी करता है - क्यों? इसका रहस्य तो वही जानें। उनकी चाल जो अचानक मोह लेती है, और बरसात में तो मदकाती, इठलाती तितली की तरह छेड़छाड़ करती है।

अपनी बेजोड़ बौद्धिक प्रतिभा को लिए जब यह रूप-राशि आती तो हृदय कहता उसे मेरा सान्निध्य भला लगता है। दिनोंदिन यह रूप का व्यौपार चलता रहा। मेरे लिए एक पहेली। कभी सोचता मेरे लिए क्यों इतना आकर्षण है। अनेक प्रश्न मेरे अन्तस्तल को झकझोर देते। मुझे किंकर्तव्यविमूढ़ बना देते। मेरे मुख से निकली हाथ-लकीरों की बात उनके लिए वरदान हो गयी। अचानक एक दिन प्रश्न किया, "इन लकीरों को देख दीजिए।" मैं ठगा-सा रह गया उस भोलेपन को देख। प्यार में मानसिक असन्तुलन रहता है। यह स्वाभाविक है। स्वच्छ हृदय का नेह कभी षड्यंत्र नहीं जानता। हाथ-लकीरें तो जनपथ पर बैठने वाले चलते-फिरते राहगीरों की भी देखा करते हैं और ठगा करते हैं रूप को नहीं, धन को। यह तो साधारण-सी बात थी। उन्होंने कहा, "हाथ दिखाना कोई दिल दे देने का मतलब है क्या?" ठीक है। लेकिन जैसे कोई बड़ी चोरी या अपराध किया जा रहा हो, उस दिन ऐसा पाठ पढ़ाया, "ऐसा कहिए, ऐसा नहीं।" कभी सोचता हूँ इन लकीरों को देखने में यदि कोई मुहब्बत नहीं है और न बुराई तो फिर यह भय क्यों है? यह आँख-मिचौनी का खेल जब तुमने खेला मेरे साथ तो सचमुच मेरी सभी भ्रान्तियाँ दूर हो गयीं। हाथ-लकीरें मैंने पढ़ीं तो सही लेकिन सचमुच, मैं अपने भाग्य की रेखाएँ पढ़ रहा था। धीरे-धीरे यह नजदीकी बढ़ती रही। एक दिन उन्होंने कहा "अब इतना आ गए हो तो घर नहीं चलिएगा। चलिए, डैडी से मिल लीजिए। वे घर पर हैं।" मैं मना करता रहा, और वे ज़िद। अन्त में, जीत उनकी हुई। वे मुझे ले गयीं उस जादू की डोर में बांधे जहाँ वे ले जाना चाहती थीं। वहाँ जाकर ऐसा लगा जैसे नदी के दो किनारे युगों से मचलते और बाट झोह रहे हैं

मिलन की और आज अनायास, अर्घ दे रहे हैं चिर संचित प्यार की। फिर, रूप-राशि का आमंत्रण। किन्तु एक अजीब अनुभव, उत्पीड़न और आकुलता। स्वाभिमान संघातित। सोचता हूँ जिन्हें यह दिल प्यार करता है उनके संघात नहीं सहेगा। संकल्प-विकल्पों के बीच प्रत्येक पल आशा-निराशा के दीप जलाता और मिटाता। कोई गम्भीर भूल, नहीं। मैंने तो प्रत्येक कदम नाप-तोलकर उन्हीं के मूक संकेतों और स्वीकृति पर उठाया है। कौन जाने क्या होगा? मेरे ये उलझन भरे प्रश्न उन्हीं का इन्तजार कर रहे हैं।

अध्याय – 2

वनिता के सम्बन्ध में प्रो. चटर्जी का यह भाव-चित्र पढ़कर मैं अवाक्, स्तम्भित और संज्ञाहीन हो गयी। मैं सोचने लगी, "प्रोफेसर चटर्जी विश्वविद्यालय के एक वरिष्ठ प्रोफेसर हैं। अत्यन्त सरल, शान्त, गम्भीर और निरभिमानी हैं। छात्र उनका आदर अपने विषय के आधिकारिक विद्वान, प्रख्यात वक्ता, आलोचक और लेखक होने के कारण ही नहीं करते प्रत्युत छात्र वर्ग के प्रति उनके हृदय में जो अपार स्नेह है, उनकी समस्याओं को समझने की उनमें जो अद्‌भुत क्षमता है, छात्र वर्ग की अनुशासनप्रियता सम्बंन्धी उनके जो सन्तुलित एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हैं, विद्यार्थियों के प्रति जो उनकी साम्य दृष्टि है, पूंजीवाद के प्रति जो उनकी तीव्र घृणा है, समाजवाद के जो स्वप्न द्रष्टा हैं और विभिन्न धर्मों का सार मानवता आदि उनकी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो स्वत: छात्र को अपनी ओर प्रभावित कर लेती हैं। मैंने आक्रोश के चिह्न कभी उनके मुखमण्डल पर नहीं देखे। लेकिन हाँ, जब गुस्सा आता है तो बेहद और चेहरा इस आक्रोशित अवस्था में भी दीप्तिमान हो उठता है। किन्तु कुछ ही क्षणों में तथागत की सी शान्ति उनके चेहरे पर थिरकने लगेगी। उनका व्यक्तित्व महान् है। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण है जो भी उनके सम्पर्क में आता है उनका हो जाता है। उनके शिष्य उनके इस वैशिष्ट्य के कारण प्रचारक हो गए हैं। भाई अजेय और वीना दीदी ने ही तो कहा था, "एम.ए. में अर्थशास्त्र ऑफर करो। प्रो. चटर्जी तुम्हें पढ़ाएंगे। विश्वविद्यालय में प्रो. चटर्जी से अच्छा कोई नहीं पढ़ाता। चरित्र कालुष्यरहित, पुनीत गंगा के समान स्वच्छ। इतनी किताबें प्रत्येक टॉपिक पर पढ़ने के लिए बताएंगे कि तू थक जाएगी और हाँ, क्लास में तेरी आफत रहेगी यदि तू नहीं पढ़ेगी। डलर्ड उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं और वे भागते हैं उनकी कक्षा से क्योंकि उनके प्रश्नों के शिकार अधिकांशत: वही होते हैं। प्रखर बुद्धि के छात्रों की वे इज्जत ही नहीं करते बल्कि उनकी पढ़ने की भूख उनके सम्पर्क से और भी तीव्रतर हो जाती है। उनके विचारों में एक

अनूठा सामंजस्य है। वे गांधी-मार्ग के पथिक किन्तु मार्क्सवाद उनके कण्ठ में विराजमान है। कभी गलती से तुम उन्हें कम्युनिस्ट समझ सकती हो, जब वे कहेंगे, "मार्क्स उच्चकोटि का मानवतावादी था। उसकी चिन्तनधारा का विषय मानव था। आर्थिक वैषम्य से कराहते हुए वर्ग को उसने देखा और उसके उत्पीड़न की विमुक्ति के लिए उसने अपने जीवन की आहुति दे दी। संसार ने उस जैसा दरिद्री दार्शनिक पैदा नहीं किया जो जिया, मरा और आज भी जीवित है शोषित वर्ग के लिए। उसने साम्यवाद को एक षड्यंत्र के रूप में पाया और उसे एक आन्दोलन के रूप में छोड़ा। ऐसा आन्दोलन जिसके कारण आज पूंजीवाद सिकुड़ता जा रहा है और अपनी मरणासन्न स्थिति में पहुंच गया है। साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम स्थिति में है। साम्राज्यवाद ढह रहा है। उसके दिन निश्चित हैं। सदियों की दासता को छोड़कर पिछड़े राष्ट्र अंगड़ाई ले रहे हैं। उनमें संचेतना आ गयी है और जूझ रहे हैं साम्राज्यवाद के विरुद्ध। यूरोप और एशिया के अनेक राष्ट्र दासत्व का जुआ उतार चुके हैं। आलोचक कहते हैं कि वह वर्ग-विद्वेष और हिंसा का प्रचारक था। उनका यह तर्क उनके बौद्धिक दिवालिएपन को जाहिर करता है। क्या मार्क्स से पूर्व समाज में वर्ग-विद्वेष प्रतिष्ठित नहीं था? क्या गरीबों की दुनिया और अमीरों की दुनिया अलग-अलग नहीं थी? क्या एक ओर कुछ मुट्ठीभर लोगों के पास संसार का वैभव, भव्य प्रासाद, भोग के प्रचुर साधन, उत्पादन-वितरण पर एकाधिकार, शासन-सत्ता का उपभोग और विशेषाधिकार सम्पन्न संस्थिति नहीं थी? दूसरी ओर नर कंकालों का रोदन-क्रंदन, फटे तन, अस्थि-पंजर शरीर, भूख की आकुलता, बेबसी, संक्रामक रोगों की ग्रस्तता और समग्र रूप से अधिकार-विहीन शोषित वर्ग नहीं था।

धर्म जो राज्य की चेरी रहा है, क्या गरीब के भाग्य पर अट्टहास नहीं करता रहा और सत्ताशील वर्ग के अनाचार और अन्याय का पिष्टपेषण नहीं करता रहा? राज्य सम्पत्ति का संरक्षक और पूंजीवादी वर्ग की कार्यपालिका रहा है। उसका एकमात्र लक्ष्य रहा है सत्ताशील वर्ग का हित-चिन्तन और उसकी सक्रियता निरन्तर रही है सत्ताच्युत वर्ग के पद्-दलन में। वह सत्ता, हिंसा और दमन का प्रतीक रहा है। वर्ग-समन्वय अथवा वर्ग-प्रेम यह एक बहुत बड़ा आडम्बर है। ये मौसमी सुधारक पूंजीपतियों के एजेन्ट हैं। समाज में कौन शोषक है - पूंजीपति या सर्वहारा? स्पष्ट है पूंजीवाद का आधार ही शोषण है। तब यदि दुनिया में शान्ति कायम करनी है तो यह असमानता की दीवार हटानी होगी।"

अध्याय - 3

वनिता ने जैसे ही मेरे कन्धे पर हाथ रखा, मैं चौंक पड़ी। मेरे विचारों की दुनिया भंग हो गयी। वनिता ने कहा,''किस चिन्ता में पड़ गयी?'' ''वनिता, मुझे विश्वास नहीं हो रहा हैं कि ये फुल स्केप पन्ने प्रो. चटर्जी ने लिखे हैं। अच्छा एक बात बताएगी, छुपाएगी तो नहीं।'' उसने अपनी स्वीकृति सिर हिलाते हुए दी। उसके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान थी और सारे शरीर में एक अजीब थिरकन। वह फूली नहीं समा रही थी। मैंने सचमुच, उसे आज तक इतना उत्फुल्लित नहीं देखा था। मैंने उसकी ठोड़ी को ऊपर उठाते हुए कहा, ''वनिता, क्या तू प्रो. चटर्जी से प्रेम करती है?''

''छि! अनु, तुम कैसी बात करती हो? प्रेम और प्रो. चटर्जी। तुम देखती नहीं हो कि वे मेरी ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखते। हम और तुम उनके पास कितनी बार गये हैं। कभी उन्होंने देखा है हमारी ओर। उनसे कुछ पूछिए, उत्तर कभी नीची नजर करते हुए या इधर- उधर देखते हुए दे देंगे। ऐसे आदमी से कोई क्या प्रेम करेगा? निरुपा कल कह रही थी, "प्रो. चटर्जी भी किस धातु के बने हैं? जब देखो, चाहे क्लास में हों, चाहे अपने कक्ष में, चाहे किसी टॉपिक पर लेक्चर देते हों, सभी जगह बौद्धिक प्रवचन करते हैं। आध्यात्मिक प्रवचनों के लिए ये साधु सन्त ही बहुत हैं। माँ, समाजी विचारों की हैं और बिना मुझे लिए कभी समाज नहीं जातीं। छः दिन कॉलेज की पढ़ाई और रविवार रिजर्व है माँ के लिए। रविवार को समाज में पहले यज्ञ होगा। गला फाड़-फाड़कर वेद मंत्रों का उच्चारण। ओह, कान बन्द करने पड़ते हैं मुझे तो। न कोई स्वर. न ध्वनि, और न कोई वैज्ञानिक पद्धति संगीत की- सब गड़बड़ झाला। लेकिन उन्हें तो प्रचार करना है अपना, इसलिए, जोरों से चीखते हैं ताकि जान जाएं आस-पास के लोग कि अवधूत यज्ञ कर रहे हैं। फिर गयी है इनकी बुद्धि। इस इमरजेन्सी पीरीयड में कितनी धनराशी का अपव्यय करते हैं। मैं इसे समाजियों की अल्प बचत योजना कहा

करती हूँ। एक दिन मैंने माँ से कहा, ''माँ, इन वेदमंत्रो से क्या लाभ जब हम इनका अर्थ ही नहीं समझते? कभी इस देश में जब यहाँ का जन-समुदाय देववाणी समझता होगा तो उसका एक महत्व रहा होगा, लेकिन आज इसकी क्या उपयोगिता है?'' जब वेद मंत्र उच्चरित होते हैं तो मैं माँ के कान में कहती हूँ, ''माँ, गालियाँ दे रहे हैं तुझे।'' लेकिन मेरी माँ नाराज़ नहीं होतीं और मुस्करा देती हैं। यज्ञ के बाद कोई साधु उपदेश देगा ऐसे जैसे, कभी जवानी की आँधी ने उसे सताया ही न हो। मनोवैज्ञानिक सूझबूझ तो छू तक नहीं गयी। कभी कुरान शरीफ की आयतें तो कभी गीता के श्लोक पढ़ेगा। और साथ ही बाइबिल को भी कोट करेगा। कभी नारी के प्राचीन स्वरुप की प्रशंसा तो कभी उसकी आधुनिकता की मज़ाक और खण्डन करेगा। मैं माँ से कहा करती हूँ,'' माँ, ये कैसा समाज है तुम्हारा - न आर्य, न अनार्य, न ब्रह्म और न अब्रह्म। कोई नया ही मॉडिल है इसका।'' और हाँ, कल प्रो.चटर्जी भी मुझे उपदेश देने लगे, कहते थे,''तुम्हें इतने सटे और भड़कीले कपड़े नहीं पहनने चाहिएं। रोजाना ये चूड़ियाँ और कुण्डल नहीं बदला करो। पाउडर और लिपस्टिक लगाने से स्किन खराब हो जाती है। एक छात्रा को जितना सादा हो रहना चाहिए।'' गयी थी प्रोडक्शन पर किताब लेने और सुनने को मिला उपदेश। सचमुच, मैं इन बौद्धिक प्रवचनों से तंग आ गयी हूँ। उन्हें क्या हक है कि वे मुझसे ऐसी बातें करें। मैं क्या करती हूँ, क्या मेरे माता-पिता नहीं जानते? मेरे पिता, वनिता, मुझे बहुत चाहते हैं। कोई ऐसी डिजाइन का कपड़ा नहीं है जो मुझे लाकर उन्होंने नहीं दिया हो। मार्केट में नई डिजाइन का कपड़ा देखा और मुझे खरीद देंगे। घर आकर कहेंगे, ''निरुपा, देख कितनी सुन्दर डिजाइन का कपड़ा है।'' मैंने कल पिताजी से प्रो. चटर्जी की बातें कही थीं। वे कह रहे थे.''प्रो. चटर्जी क्या जानें कि समय किस तेजी से बदल रहा है? आज की इस बदलती दुनिया को समझने के लिए हमें भी साथ-साथ बदलना होगा। नए दृष्टिकोण को अपनाना होगा। समाज के समस्त ढाचे में तबदीली लानी होगी। आज आवश्यकता है एक स्वस्थ दृष्टिकोण की।'' उस दिन, तुम्हें मालूम है, प्रदीप ने कुछ क्लास में कहा तो प्रो. चटर्जी बोले, ''अनचाहा परामर्श बेकार जाता है।'' और मैं भी उस दिन यही कह देती तो।" इतने में ही प्रो. चटर्जी आते हुए दिखाई दिए और निरुपा नौ- दो ग्यारह। मैंने कहा, ''अरे!सुनो भी।" लेकिन वह रुकी नहीं।"

''अच्छा वनिता, सच बता, प्रो.चटर्जी का तेरी ओर झुकाव है क्या?'' मैंने कहा।

''मैं क्या जानूं?'' वनिता ने उत्तर दिया।

''भई, तुम दोनो की पहेली मेरी समझ में नहीं आती। एक ओर खोई- खोई-सी उदास, आकुल और बेसुध प्रो. चटर्जी की बात कीजिए तो बेहद जिज्ञासा और प्रश्नों की बौछार और कहीं कह दो, आज प्रो.चटर्जी बड़े व्यथित, अनमने, और खिंचे थे तो गंगा-यमुना की बाढ़ न जाने कहाँ से तुम्हारी आँखो में आ जाती है? यह सब वैसे ही होता है न। और प्रो. चटर्जी

का यह मुहब्बत से भरा हुआ खत किसका सबूत है? आज कक्ष में बैठे जो रो रहे थे वह भी एक नाटक है न।" वनिता विचारमग्न हो गयी, इतने ही में कार का हॉर्न बजा। मैंने कहा, ''लो, अनूप आ गया। अच्छा भई, तू नहीं बताती है तो न बता। मैं तो चली। हाँ, कल जो तू उपन्यास लायी थी, मुझे पढ़ने के लिए दे दे। कल जब यूनिवर्सिटी आऊंगी तो लेती आऊंगी।"

अध्याय – 4

मैंने पढ़ने के लिए जैसे ही उपन्यास खोला तो मेरी नज़र उन तीन-चार हस्तलिखित पृष्ठों पर पड़ी जो इसमें रखे थे। मैं पढ़ने लगी, "अर्चना के बाद'' जब मैंने अपनी आँखे खोलीं उस विशालकाय भगवान बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख और भगवान से आशीष की भीख मांगी तो सहसा मेरी नज़र तुम पर पड़ी। मैं देखती रही एकटक और मुझे ऐसा लगा जैसे भगवान का पुनर्जन्म ठीक उसी रूप में। पीत परिधान में तुम्हारी सुन्दर काया ने मुझे ठग लिया। मैं सिहर उठी। मंत्रमुग्ध, अपलक निहारती रही तुम्हारे अलौकिक स्वरूप को। पान करती रही तुम्हारी उस छवि का। आज चाह पूरी हुई जीवन की, विचार बनने लगे। सचमुच, अर्पित किया अपना स्वच्छ, सरल और तापी हृदय तुमको। तुम्हारे दिव्य रूप ने प्रेमांकुरित किया। सोचती हूँ तथागत का आशीष हो यही। तुम अभी शान्त, तपस्या में लीन, आँख बन्द किए बैठे थे और मैं रूप की चोरी कर रही थी। इतना साहस कहाँ से आ गया, नहीं जानती? मेरे निर्निमेष नेत्र तुम्हारी ज्योति से शीतल होते रहे और मैं खो गयी उन भाव-तरंगों में जो मुझे झुलाती और थपकियां दे-देकर सुलाती रहीं। शायद, मेरी दृष्टि से तुम्हारी साधना भंग हुई। तुम्हारे कमल नयन जब खुले और मिले मेरी दृष्टि से, मैं संभल न सकी और अचेत हो गयी। शायद गिर पड़ी भगवान के चरणों में और जब चेतना आयी तो तुम जा रहे थे। मेरा अन्तस्तल सुबक उठा। मैं बुरी तरह सिसक पड़ी। भगवान का सम्बल लेकर उत्पीड़ित खिन्नमना उन विशाल उद्यानों को पार करती हुई जन-पथ पर आ गयी। लेकिन मेरा आहत मन तुम्हें खोजता रहा उन विभिन्न राष्ट्रों से आगत लामाओं, भिक्खु और भिक्खुनियों की भीड़ में। मैं बहुत भटकी इधर-उधर लेकिन निराश। और पता नहीं, कब-कैसे आ गयी इस बौद्ध विहार में। तुम कौन थे? क्यों आए मेरे मानस में? अनेक प्रश्न उठते रहे। कौन जाने जीवन सरस या विरह-बाती लिए पलपल यह शरीर-दीप जलेगा? मेरे ये विचार मुझे सारी रात सिसकाते रहे और मैं दहकती रही विरह की आग में। जब प्रभाती ने उठाया तो भारी मन, शिथिल अंग। लेकिन आज तो बुद्ध-जयन्ती थी। उमड़ पड़ा था अपार जन-समुदाय बुद्ध के भक्तों का विविध परिधान पहने। विभिन्न

जातियों, बोलियों और राष्ट्रीयताओं का अनुपम संगम। चले आ रहे थे इस धरती की रज लेने। कितना जादू है गौतम के संदेश में आज भी। कौन-सी शक्ति इन दूरस्थ राष्ट्रों से इन बौद्ध लामाओं, भिक्षु और भिक्षुणियों को खींच लाती है। क्या मार्ग की कष्ट प्रधान यात्रा और आर्थिक विवशता भी इन्हें रोक नहीं पाती? ढाई हजार वर्ष के बाद भी गौतम का यह देश बौद्ध जगत् के लिए श्रद्धा एवं आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। विश्व में सांस्कृतिक एकत्व की संस्थापना जो बुद्ध ने की है अन्य किसी पीर-पैगम्बर ने नहीं की। बौद्ध जगत् कभी हिंसा का प्यासा नहीं रहा और न साम्राज्यवादी लिप्सा ने ही उसे कभी सताया। हिंसा, बर्बरता, शोषण, असमानता और युद्धीय विभीषिका के कगार पर बैठी आज की इस दुनिया के लिए तो गौतम का संदेश आज और भी आवश्यक है। बुद्ध के मार्ग से भटके हुए लोग हिंसक हो गए हैं। बौद्ध जगत् की उपास्या भूमि की उत्तरी सीमा आज रक्तरंजित हो गयी है। लेकिन हिंसा, हिंसा को पैदा करती है। क्या कभी हिंसा ने शान्ति स्थापित की है? तभी तो भगवान बुद्ध ने अहिंसा का महत्व समझकर क्लान्त विश्व को अहिंसा का पाठ पढ़ाया। अचानक सामने के चाइना टेम्पिल में घंटे बज उठे और 'बुद्धं शरणं गच्छामि' की ध्वनि सुनाई दी। मैं जोर से चिल्लाई, "अरी, रक्तिम, हिरण्यवती नहीं चलना है क्या?" जब हम हिरण्यवती तट पर आए। मैं हिरण्यवती से बोली, "तुम कितनी महान् हो? शताब्दियों का भार लेकर, घात-प्रतिघात सहकर, जन-जन का पाप लेकर आज भी अभिमान रहित, शान्त, धीर और मन्दगति से चली जा रही हो। तुम साम्य भाव की कितनी प्रतीक? कभी वर्ग, जाति और धर्म ने तुम्हें छुआ तक नहीं। सभी का तुमुल स्वागत चाहे तापी हो या पापी। जब कोई तुम्हें अपनी दुःखद गाथा सुनाता है, तुम धीरज बंधाती हो, हरती हो मन का भार और निर्मल बना देती हो उसके मन को। जब कोई कहता है, "माँ, मुझे आशीष दो।" तुम उड़ेल देती हो हृदय का अतुल प्यार और वह कृत्य-कृत्य हो जाता है। साधु असंगति से दूर भागता है इस भय से कि कहीं दूषित न हो जाए किन्तु वही तुम्हारे पास आकर अपनी कालिमा धोकर, स्वयं पुनीत हो जाता है। तुम्हारे आस-पास रक्तपात होता रहा जन का रूप लिए भूखे भेड़ियों का जिन्होंने पाशविक शक्ति को मानवता और शान्ति का एकमात्र आधार माना, किन्तु स्थायी शान्ति कभी स्थापित हो सकी हिंसा के बल पर। क्या वैर ने कभी वैर का दमन किया? सचमुच वैरियों की उत्पत्ति का मूल कारण एक यही रहा। सुना है भगवान बुद्ध को उनके जीवन की संध्या में, तुम्हीं ने अनुप्रेरित किया और उनके अनन्य शिष्य आनन्द ने तुम्हारी चरण-रज लेकर शान्ति का उपदेश दिया मल्ल राजाओं को। हिरण्यवती! सदियों के कालुष्य को अन्तस्तल में छिपाए सभी को पुनीत बनाकर, परहित-चिन्तन कहाँ से सीखा, जरा बताओ न। लेकिन कैसा वैराग्य है तुम्हारा? क्या तुम भी एक बूंद प्यास के लिए चकोर की भांति तरसती हो? और इस अथाह जल-राशि का अर्घ दे रही हो अपने दृगों से किसी निष्ठुर की याद में। तुम्हारी तपस्या अनेक युगों की क्या अभी सार्थक नहीं हुई? अभी भी निर्जन, दुर्गम ऊंचे पर्वतों, खण्डहरों और मटमैले टीलों

के बीच विरह-गीत गाती हुई किसी की खोज में पागल भटकती हो। और ये वन-पक्षी क्या तुम्हारे वियोग से विह्वल होकर उत्पीड़ित इधर-उधर भटकते हैं? ये आकाश-पखेरु भी ऊंची उड़ानें लेकर क्या तुम्हारे विरह-गीत गाते हैं और इन सन्तों के हवन कुण्डों का धुआँ क्या तुम्हारे अन्तर की विरही पीड़ा का उच्छ्वास है? सचमुच, तुम तपस्विनी हो। तुम्हारा प्यार सच्चा, अनन्त और असीमित है। तभी तो युग बदल गए, समाज बदल गए और सामाजिक मान्यताएं बदल गयीं किन्तु तुम वियोगिनी बनी अपने पथ पर अडिग और अटल आज भी। अन्यों को सुखी बनाकर, स्वयं हतभागिनी, खोजती हो किसी को, आज इस सूने में। लेकिन मैं हतप्रभ रह गयी, कुंठित बुद्धि हो गयी और चीख पड़ी जोर से दूसरे तट पर देखकर उस बौद्ध भिक्षु को। मैं संभल न सकी और मिलने के लिए उस तटी बौद्ध से जल में कूद पड़ी। लेकिन बीच धार में जाकर डूबने लगी और देखता था खड़ा हुआ वह बौद्ध अपलक इस दृश्य को। अचानक वह नदी में कूदा, तेजी से तैरा और मुझे पकड़ लिया। भुजाओं में लिए मुझे वह तट पर आ गया। और मैं सोचती थी, "आज जीवन की साध पूरी हुई।" मैं देखती रही उसे और खो गयी उसी में। वह बोला, "तुम्हें चेतना आ गयी। जब जल का अभ्यास नहीं तो क्यों कूद पड़ी नदी में?" इतना कहा और चल दिया लेकिन मैंने मार्ग अवरुद्ध किया और बोली, "कौन हो तुम?"

"एक भिक्खु।"

"आज मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिए।" मैंने विनम्र भाव से कहा।

"नहीं, तुम्हारी प्राण रक्षा करना मेरा धर्म था और मैं तुमसे कुछ लेकर धर्मच्युत होना नहीं चाहता।"

"मेरे पास जो कुछ है वह तो मैं दे चुकी। जीवन-रक्षा का उपहार मेरे पास है कहाँ?"

वह देखता रहा कुछ क्षण अपलक मेरी ओर और फिर बोला, "अच्छा, मिलूंगा फिर कभी इसी तरह और तुम्हारा आतिथ्य स्वीकार कर लूंगा।"

"कब मिलोगे?" मैंने प्रश्न किया।

"जीवन में एक बार। लेकिन कह सकता नहीं कब?" और चल दिया। मैंने बहुत रोका, रुका नहीं। मैं रोती रही और उसकी ओर देखती रही जब तक कि मेरी आँखों से वह अदृश्य नहीं हो गया। लेकिन उसने मुझे मुड़कर फिर कभी नहीं देखा। "दीदी! चलो न बहुत देर हो गयी।" रक्तिम बोली मेरा हाथ पकड़ कर। मैं उठी और चल पड़ी। लेकिन पद-चिह्न उन्हीं के, मेरे सुहाग की निशानी, मेरा अन्तस्तल बोल उठा। उस चरण-राशि को माथे तक ले जाती लेकिन न जाने कौन मेरा हाथ पकड़ कर उसे मांग में भर देता और फिर, मैं उस समस्त सुहाग-राशि को अपनी साड़ी के आँचल में रख

लेती। इतने में आँधी का एक ज़ोर का झोंका आया और मैं विह्वल हो उठी। तभी मैंने पगडण्डी से कहा, "बहिन, नाराज क्यों होती हो? मैंने कोई अपराध नहीं किया और न अनधिकार चेष्टा ही। वह मेरे हैं, शायद तुम नहीं जानती हो। इसमें उदास होने का कोई प्रश्न नहीं।" आँधी का वेग अचानक न जाने कहाँ खो गया और मैं चरण-राशि बटोरती-बटोरती बौद्ध विहार में आ गयी। एक ताम्र पात्र में उस चरण-राशि को रखकर मैंने समर्पित किया उसे भगवान के चरणों में। मेरी उपासना का एकमात्र साधन यही।

रात्रि के आठ बजे, बौद्ध विद्यापीठ में एक समारोह था। मैं भी आमंत्रित थी वक्ताओं में। डैडी, रक्तिम और मैं ठीक समय पर पहुंचे। लेकिन अपार भीड़, तिल रखने को जगह नहीं। किसी प्रकार मंच पर पहुंची। बुद्ध समाज के विविध रूप मुझे विचार-सामग्री देते रहे और अचानक मुझे बोलने का आदेश मिला। मैं खड़ी हुई बोलने के लिए, "मानव-इतिहास में सर्वप्रथम अनुभूति हुई जन-दुख की गौतम को। गौतम ने राजपथ पर देखकर एक बूढ़े को, आकुल होकर प्रश्न किया, "सारथी, इस आदमी को क्या हो गया है? क्यों यह झुककर चलता है?"

"राजन, यह बूढ़ा हो गया है। सभी की दशा एक दिन ऐसी ही होती है।" गौतम विचारमग्न हो गया और दूर क्षितिज की ओर देखने लगा। इतने में, एक अर्थी ले जाते हुए पुरुषों का समूह निकला। गौतम ने आश्चर्यचकित होकर प्रश्न किया, "सारथी, ये लोग क्यों रोते हैं?"

"राजन, यह व्यक्ति मर गया है जिसे ये लोग ले जा रहे हैं। इसी कारण ये इसके वियोग में रोते हैं। सभी को एक दिन मरना है।"

यह थी घटना जिसने झकझोर दिया गौतम के अन्तस्तल को और दु:खों के निवारण की खोज में, प्रण किया छोड़ने का रूपवती पत्नी को, नन्हे से राहुल को और राज्य के प्रचुर वैभव को। अद्वितीय घटना है मानव-इतिहास की जब किसी ने जनता के दु:ख से अभिभूत होकर वैराग्य लिया हो। कितना बड़ा जनवादी? अदृश्य शक्ति के शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया। क्यों उत्पीड़न, क्यों जरावस्था और मृत्यु? किसकी यह अधिकार सत्ता? क्या यही मानव के जीवन का मूल्यांकन? ये विचार आते रहे और छाते रहे उसके मानस पर और तभी एक दिन, सचमुच उसने छोड़ दिया जीवन के सुख को और फिर भटका साधु और साधकों में, अघोरी और कनफड़ वैरागियों में, योगी और वीतरागियों में। सभी क्रिया कर डालीं लेकिन अतृप्त। पर भूख बढ़ती रही खोज की अधिकाधिक। निराश होकर, समाधि लगायी वट-वृक्ष के नीचे। सूख गयी काया, हड्डियों का ढांचा रह गया शेष, पता नहीं प्राण-पखेरू कहाँ और कैसे अटके रहे? साथी छोड़ भागे और रह गया अकेला। लेकिन गौतम को एक दिन बोध हुआ और तभी वह वट-वृक्ष बोधि-वृक्ष कहा जाने लगा। प्रश्न एक है। किस हेतु गौतम ने वैराग्य लिया - जन-दु:ख विमोचन हेतु। कैसा दु:ख? भौतिक या अभौतिक। नहीं, नहीं, प्राकृतिक जो कभी टलता

नहीं और जिसकी खोज करना भी सरल नहीं। किन्तु फिर भी, गौतम ने निर्वाण-पथ बतलाया मानव के दुःखों का सार। क्या किसी और का इतना बड़ा आज तक त्याग है मानव-इतिहास में? चिन्तक बहुत हुए, साधु और सम्राट् बहुत हुए, मसीहा और साधक बहुत हुए लेकिन वह इन सभी से उच्चतर और श्रेष्ठतर। वही आदिप्रेरक युग पुरुष गांधी का। किन्तु आज देश का दुर्भाग्य कैसा? मांझी अविवेकी, लक्ष्य और दिशा-विहीन, नाव जर्जरित और पतवार जीर्ण-शीर्ण। नदिया विशाल, जल-राशि अथाह और तूफान सामने से जोरों का उठ रहा। क्या होगा, समझ आता नहीं कुछ। गौतम ने उपास्या रूपवती छोड़ी थी किन्तु आज जन-नेता रूप के हाट में लीन सुन्दर मुखड़ों में। वह राज्य-लक्ष्मी को ठोकर मारकर वैरागी बना था, किन्तु आज अभागे इस देश में सत्ता से लिप्त रहने की अमिट भूख और संघर्ष भी। तथागत ने अहिंसा और निर्वाण का उपदेश दिया किन्तु आज मूल मंत्र केवल एक स्वनिर्माण सत्ताभोगियों का। अजीब-सी एक बात है श्वेतांग महाप्रभुओं की, किन्तु प्रशस्तिपूर्ण। प्रवासी होकर, दिया इस देश को एक स्वस्थ विरोधी दल। कितने महान् थे लार्ड डफरिन और ह्यूम। कौन जनतांत्रिक? वह जिसे देश का जन-समाज शोषक कहता रहा और जूझता रहा अनवरत अथवा वह जो आज शंकर बना बैठा है और सबोटेज करता है भीतर ही भीतर विरोधी दलों में। नेताओं को भ्रष्ट किया, विरोध को शान्त किया टुकड़ा डाल-डालकर भौतिक सुखों का। क्या गांधी का आदर्श यही रहा? आज जब कोई कहता है, "तुम चाकर हो जनता के, इस सार्वभौम प्रतिनिधि संस्था के।" तो मानस हिल जाता है, भुजाएं फड़क जाती हैं और शिव की बारात जूझती है ऐसे जैसे किसी दैत्य ने यज्ञ भंग कर दिया हो। क्यों? क्योंकि शिव तो स्वामी है इस देश का, अभागी इस जनता का जिसने स्वतंत्र किया पारतंत्र्य की बेड़ियों से। तभी तो सर्वाधिकार उसी का। जनतंत्र का कैसा विचित्र रूप? और परिभाषा जानता है इस देश में जनतंत्र की केवल वही। जनतंत्र बुरा नहीं, बुरे हैं वे शासक जो उत्पीड़न का कारण बने हैं। हाँ, आंशिक रूप से उत्तरदायी जनता भी। जनतंत्र श्रेष्ठ जीवन का आधार है और जीवित रहता है एक स्वस्थ विरोध में। जिस प्रकार सामूहिक भोज एक व्यक्ति के भोज से अधिक रुचिकर होता है उसी प्रकार सामूहिक निर्णय भी एक व्यक्ति के निर्णय से श्रेष्ठतर होता है। जनता शासन के दोषों को ठीक वैसे ही जान जाती है जैसे जूता पहनने वाला जान जाता है कि जूता कहाँ काटता है। जनता में दोषों को समझने और सामूहिक निर्णय लेने की अपूर्व क्षमता है, किन्तु सतत चेतना इसकी एक कसौटी है। नियोजन पिछड़े राष्ट्र को संवारता है। टैक्सों को जनता सहृदय सहन कर लेगी तभी जब देखती हो नौकरशाही त्यागी और सेवी है, पूंजीपति और अधिक पूंजीपति होता नहीं और मंत्री जागरूक ही नहीं, द्रवित भी होते हैं जनता के कष्टों से। किन्तु आज तो उल्टी गंगा बहती है। सभी व्यथित। शोषक और शोषित दोनों ही। केवल एक विकल्प - बुद्ध की शरण ही विमुक्ति का एक मूल मंत्र।

अध्याय – 5

वनिता के इन हस्तलिखित पृष्ठों को पढ़कर, मैं द्विविधा में पड़ गयी। बौद्ध भिक्षु वनिता के मानस का स्वामी, किन्तु प्रो. चटर्जी का वह प्रेम-पत्र और वनिता की बाह्य चेष्टाएं और आन्तरिक उद्विग्नता, क्या ये सब मेरी अपनी ही भ्रान्ति है? ऐसा तो नहीं है कि वनिता बौद्ध भिक्षु और प्रो. चटर्जी दोनों से ही प्रेम करती हो। किन्तु कभी उसने बौद्ध भिक्षु की चर्चा तक नहीं की। न वह यह भी स्वीकार करती है कि प्रो. चटर्जी से उसे प्रेम है। क्या सचमुच वनिता एक रहस्यात्मक है? लेकिन विगत पांच वर्षों में कभी उसके चरित्र ने ऐसा प्रकट नहीं किया। मेरे लिए वह सदैव एक आदर्श बनी रही है चारित्रिक एवं बौद्धिक दृष्टि से। सभी क्षेत्रों में उसकी अधिकार-सत्ता ने उसके व्यक्तित्व में चार चांद लगा दिए हैं। घड़ी की ओर जो मेरी दृष्टि पड़ी तो विश्वविद्यालय का समय हो गया था। मैं अपने इन्हीं विचारों में डूबी हुई विश्वविद्यालय पहुंची। गर्ल्स रुम में प्रवेश करते ही वनिता ने प्रश्न किया, "मैं बहुत देर से तेरी प्रतीक्षा कर रही हूँ। उपन्यास लायी है न।"

"ओह ! मैं भूल गयी। अच्छा, घर चलना विश्वविद्यालय के बाद और ले लेना।" मैंने उत्तर दिया। वनिता कुछ कहना चाहती थी कि निरुपा सामने से आते हुए प्रो. चटर्जी को देखकर बोल उठी, "लो, दार्शनिक आगए।"

"दार्शनिक नहीं, आध्यात्मिक कहो।" विक्षिप्ता ने प्रत्युत्तर में कहा।

"लेकिन सुनो, आज तो नए सूट में हैं। और एक नया शौक देखा आज, बटन हॉल में सुर्खगुलाब की कली। अभी तो मुस्करा रही है लेकिन जहाँ अध्यात्मवाद सुनेगी प्रो. चटर्जी का तो मुरझा जाएगी। दूसरों को उपदेश और स्वयं कभी शेरवानी और पायजामा, कभी धोती और कुर्ता और कभी सूट-बटन्डप तो ओपन। कभी एक ड्रेस नहीं। तभी तो मैं कहती हूँ प्रो. चटर्जी में वैचारिक अस्थिरता है।" निरुपा ने व्यंग्य करते हुए कहा।

"कुछ भी कहो निरुपा, प्रो. चटर्जी को सभी ड्रेस खूब फबती हैं।" अतृप्ता ने प्रत्युत्तर में कहा।

"अच्छा तो ये बात है। तुम्हारा दिल भी प्रो. चटर्जी के लिए मचलने लगा। लो भई वनिता, दीवानों की लिस्ट में इनका भी नाम लिख लो। लेकिन अतृप्ता, प्रो. चटर्जी तो जन्मजात वैरागी हैं। न जाने कितने दिलों को उन्होंने तड़पाया, कितनी कोमल कोपलें अपने कौमार्य को लिए ही सिकुड़ गयीं किन्तु प्रो. चटर्जी चट्टान की भांति अचल और अड़िग? क्या तू नहीं जानती प्रो. नीलिमा बनर्जी के काण्ड को? प्रो. चटर्जी की यह स्टूडेंट रही हैं। बी.ए. और एम.ए. में विश्वविद्यालय में प्रथम आयीं और संगीत की बेहद शौकीन थीं। वीणा क्या बजाती थीं सचमुच हृदय के तार बजाती थीं। जब फाइनल में आयीं तो प्रो. चटर्जी से इन्हें कैसे मुहब्बत हो गयी, मेरी दीदी नहीं जानतीं? हाँ, प्रो. चटर्जी के पास वे आती अधिक थीं, ऐसा वह बताती थीं। इनकी मुहब्बत का राज़ किसी को मालूम न था। विश्वास मुखर्जी इनका एक सहपाठी था। वह करता था प्रेम इनसे और उसने अनेक प्रयास किए इन्हें पाने के लिए, लेकिन वह निष्फल रहा। जब वह निराश हो गया तो उसने मोटर साइकिल एक्सीडेन्ट कर दिया और घायल हो गया बुरी तरह। भर्ती हुआ डॉ बनर्जी के क्लिनिक में। कोई आशा न थी इसके बचने की, किन्तु जीवन-दान मिला इसे डॉ बनर्जी की दक्षता और दौड़-धूप के कारण। अक्सर वह आता-जाता अब डॉ बनर्जी के यहाँ। अकारण नीलिमा से बातचीत करने के अवसर ढूंढ़ता। यह क्रम चलता रहा काफी दिनों तक। एक दिन नीलिमा से बोला, "यह प्रो. चटर्जी का फोटो तुम्हारे कक्ष में क्यों लगा है? नीलिमा ने उत्तर दिया, "प्रो. चटर्जी प्रेरणा के स्रोत हैं मेरे लिए। उनकी अनुप्रेरणा ने मेरे व्यक्तित्व को विकसित और दीप्तिमान किया है। आज मैं जो कुछ भी बन सकी हूँ, इसका श्रेय उन्हीं को है। वे श्रद्धेयास्पद हैं मेरे लिए।" विश्वास का चेहरा यह सुनकर तमतमा आया और बोला, "नीलिमा, छिपाती क्यों हो? सच तो यह है कि तुम उनसे प्रेम करती हो।" इतना कहना था कि नीलिमा ने उसके गाल पर ज़ोर का एक थप्पड़ मार दिया और गुस्से में बोली, "तुम नीच हो, पतित हो। तुम्हें शर्म नहीं आती ऐसा कहते हुए उस साक्षात् देवता के लिए जिसने कभी अपने विरोधी का भी अहित नहीं किया हो, जिसने स्वार्थ से आदर्श और कर्तव्य को उच्चतर समझा हो। परहित चिन्तन जिसका एक मात्र साध्य रहा हो और जिसकी चारित्रिक स्वच्छता ईर्षा का विषय रही हो। और तुम, मैं जानती हूँ कैसे हो? हट जाओ मेरे सामने से। आज के बाद, फिर कभी, यहाँ नहीं आना।"

किसी प्रकार विश्वास अपमान का घूंट पीकर चला तो आया वहाँ से, किन्तु उसका दिल प्रतिशोध की आग से धधकता रहा। अगले दिन जब नीलिमा प्रो. चटर्जी के कक्ष में थी तो अचानक विश्वास कक्ष में घुसा और झपटा छुरा लेकर प्रो. चटर्जी पर। प्रो. चटर्जी बाल-बाल बच गए नीलिमा के कारण। नीलिमा प्रो. चटर्जी के बचाने के लिए दौड़ी और घायल हो गयी।

प्रो. चटर्जी नीलिमा को जैसे ही सहारा देने के लिए आगे बढ़े कि विश्वास ने फिर उन पर आक्रमण कर दिया। किन्तु इस बार भी नीलिमा आगे आ गयी और बुरी तरह घायल होकर गिर पड़ी। रक्त की नदी बह चली। प्रो. चटर्जी विश्वास के हाथ से छुरा गिराने में सफल हो गए। नीलिमा धीरे-धीरे फर्श पर सरकी और छुरा उठाकर आलमिरा के पीछे फेंक दिया। इतने में ही मीनू चपरासी कक्ष में आ गया और विश्वास से गुथ गया। प्रो. चटर्जी नीलिमा को लेकर तुरन्त पहुँचे डॉ बनर्जी के क्लिनिक। नीलिमा को इस संघातित अवस्था में देखकर, डॉ बनर्जी संज्ञाहीन हो गए कुछ क्षणों के लिए। सहायक डॉक्टरों ने नीलिमा की ड्रेसिंग की। डॉ बनर्जी को जब यह मालूम हुआ कि विश्वास ने यह संघात किया तो उनका शरीर क्रोध से कांपने लगा और झट फोन उठाया और बोले, "पुलिस स्टेशन नम्बर एक चाहिए।" प्रो. चटर्जी ने उनके हाथ से फोन ले लिया यह कहते हुए कि आप चिन्ता नहीं कीजिए डॉक्टर साहब, विश्वविद्यालय अनुशासनात्मक कार्यवाही करेगा। इस घटना के बाद, डॉ बनर्जी प्रायः प्रो. चटर्जी को अपने बंगले या क्लिनिक पर बुलाते रहते। और यह निकटता इतनी बढ़ी कि डॉ बनर्जी प्रोफेसर चटर्जी का परामर्श अपने प्रत्येक कार्य में लेते। अचानक एक दिन डॉ बनर्जी ने नीलिमा के पाणि-ग्रहण का प्रस्ताव प्रो. चटर्जी के सम्मुख रख दिया। प्रो. चटर्जी स्तम्भित रह गए। यह प्रस्ताव उन्हें ऐसा लगा जैसे किसी ने इलेक्ट्रिक शौक दिया हो।

"डॉक्टर साहब, क्या कह रहे हैं आप? यह नहीं हो सकता।"

"प्रोफेसर साहब, आप यह तो जानते ही हैं कि नीलिमा मेरी एकमात्र सन्तान है। मेरा सुख-दुःख वही है। शायद आप नहीं जानते, यह प्रस्ताव उसी ने रखने के लिए कहा था। जब-जब उसकी शादी से सम्बन्धित फोटो मैंने दिखाए तभी उसने कहा, "पापा, मैं प्रो. चटर्जी को चुन चुकी हूँ। यदि वे स्वीकार करते हैं तो अच्छा, नहीं तो मैं शादी नहीं करूंगी।" प्रोफेसर साहब, अब अप ही बताइए मैं क्या करूँ?" डॉ बनर्जी ने दीर्घ उच्छ्वास लेते हुए उत्तर दिया।

"लेकिन मैं किसी से वचनबद्ध हूँ, डॉक्टर साहब।" डॉ बनर्जी ने प्रोफेसर चटर्जी को बड़े विस्मय से देखा और देखते रहे, पढ़ते रहे उनके मनोभावों को।

प्रो. चटर्जी बोले, "अच्छा डॉक्टर साहब, अब मैं चला।"

इस घटना के बाद, प्रो. चटर्जी डॉक्टर बनर्जी के यहाँ फिर कभी नहीं गए। डॉ. बनर्जी ने भगीरथ प्रयास किया और अनेक प्रलोभन भी दिए किन्तु प्रो. चटर्जी डिग नहीं सके।

इसके बाद, नीलिमा बनर्जी इंग्लैण्ड चली गयीं और ऑक्सफोर्ड से पी-एच.डी. की उपाधि लेकर लौटीं। आज तक वे अविवाहित हैं। गत वर्ष ही तो विश्वविद्यालय में लेक्चरर नियुक्त हुई हैं। सुनते हैं प्रो. चटर्जी का फोटो

आज तक नीलिमा बनर्जी के कक्ष में लगा है और पूजा करती हैं आज भी। पता नहीं उस बेचारी की साध कब पूरी होगी?

अनु ने घड़ी की ओर देखते हुए कहा, "अरे! दस निमट हो गए घंटा बजे और हम लोग गपशप कर रहे हैं। प्रो. चटर्जी का पीरिअड है, क्लास में भी घुसने नहीं देंगे।" इतने में ही मीनू चपरासी प्रो. चटर्जी के कक्ष से निकला। मैंने पूछा, "क्या प्रो. चटर्जी क्लास में गए?"

"नहीं, अभी आ रहे हैं। वी.सी. से बात कर रहे हैं।"

मैंने सभी को संकेत करके बुलाया और कहा, "अभी क्लास में नहीं आए। चलो, क्लास में बैठें।"

विश्वविद्यालय के बाद, जब हम घर जाने लगे तो मुझे ध्यान आया कि पापा ने तो कहा था कि प्रो. चटर्जी को आमंत्रित करना छः बजे टी पर। जब मैंने वनिता से कहा तो वह बोली, "अब क्या हो सकता है? वे तो बारह बजे ही चले जाते हैं। मुझे तो उनका फोन नम्बर भी मालूम नहीं। लेकिन हाँ, यह मीनू चपरासी बता रहा था कि वे कहीं गुजराती टोला के पास रहते हैं? हमने झट रिक्शा किया और गुजराती टोला आए। बड़ी कठिनाई से मकान मिला। मकान पर खड़े हुए एक लड़के को देखकर वनिता बोली, "आशीष, क्या दादा घर पर हैं? क्लब तो नहीं गए।"

"हाँ, अपने कमरे में हैं।" आशीष ने उत्तर दिया।

शायद प्रो. चटर्जी ने वनिता की आवाज़ पहचान ली थी। उन्होंने पुकारा, "वनिता, चली आओ।" मैं और वनिता कमरे में पहुंचे तो देखा प्रो. चटर्जी कुछ लिख रहे थे।

"प्रोफेसर साहब, हमने आपको डिस्टर्ब कर दिया।" वनिता ने कहा।

प्रो. चटर्जी अभी उत्तर भी न दे पाए थे कि फिर उसने प्रश्न किया, "क्या लिख रहे थे, प्रोफेसर साहब?"

प्रो. चटर्जी ने एक किताब देते हुए कहा, "देखो वनिता, यह मेरी किताब अभी प्रकाशित हुई है।"

वनिता ने उस पुस्तक के गेट-अप और अनुक्रम को देखा और कहा, "प्रोफेसर साहब, मैं इसे पढ़कर कल लौटा दूंगी।" और फिर टेबिल पर पड़ी मेगजीन के पन्ने उलटने लगी।

प्रो. चटर्जी का आडम्बरहीन ड्रॉइंग रूम उनके विचारों की एक झांकी देता है। भगवान बुद्ध के चित्र पर दृष्टिपात होते ही ढाई हजार वर्ष पूर्व के भारत की गौरव-गरिमा का स्मरण हो आता है। ऐसा आभासित होता है कि तथागत ने उनके जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। सामने महात्मा गांधी का चित्र उनकी राजनीतिक भावनाओं को परिलक्षित करता है। लेकिन

कार्लमार्क्स के फोटो पर दृष्टि पड़ते ही वैचारिक द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है - एक ओर अहिंसा के प्रतीक और दूसरी ओर हिंसा का प्रचारक। यह कैसा वैचित्र्य? सम्भवतः ये चित्र प्रो. चटर्जी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करते हैं। ऐसा लगता है कि वे इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाए। स्वामी विवेकानन्द और रवीन्द्र के चित्र उनकी वेदान्तिक एवं साहित्यिक अभिरुचि को प्रकट करते हैं। इतने में ही वनिता बोली, "अरे !अनु, कहाँ खो गयी? प्रोफेसर साहब से क्या कहना है, कहो न?" मैंने प्रोफेसर साहब से प्रार्थना की किन्तु उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की।

वनिता बोली, "प्रोफेसर साहब, आप जानते हैं हम कैसे यहाँ आए?"

"अरे! हाँ, यह तो मैं भूल ही गया था पूछना तुमसे। बताओ, यहाँ कैसे आ सकीं?" प्रो. चटर्जी ने जिज्ञासा प्रकट करते हुए उत्तर दिया।

"मीनू ने एक दिन बताया था कि आप गुजराती टोला के पास रहते हैं। गुजराती टोला आकर हमने एक मालिन से पूछा यह सोचते हुए कि शायद वह आपके यहाँ फूल ले जाती हो। वह बोली, " कौन प्रो. चटर्जी बा, हम नाहिं जानत?" एक धोबिन दिखाई दी, उससे पूछा। उसने बताया, "अरे! यह सामने कहा देखत हो? ए मकान चटर्जी बा।" उस मकान से निकलते हुए एक लड़के से मालूम किया, "क्या प्रो. चटर्जी हैं?

"प्रो. चटर्जी यहाँ नहीं रहते।" उसने उत्तर दिया। और फिर उसी ने हमारा मार्गदर्शन किया।

"अच्छा, तब तो तुम बहुत परेशान हुईं।" प्रो. चटर्जी ने व्यथित भाव से कहा और फिर आशीष को पुकारा। उससे कहा, "भई, कुछ खाने को लाओ न।"

वनिता बोली, "प्रोफेसर साहब, हम कल आएंगे। इस समय एक बहुत आवश्यक काम से जाना है।"

और फिर हम दोनों ने हाथ जोड़ दिए अभिवादन करते हुए।

घर आकर मैं वनिता के लिए टी लेने के लिए गयी और वापस आकर देखा कि वनिता कुछ पढ़ रही थी। मैंने कहा, "कहो वनिता, यह चुपके-चुपके क्या पढ़ रही हो?"

"अच्छा आओ, तुम भी पढ़ लो।" उसने उत्तर दिया।

"तुम्हीं सुनाओ।" और वह सुनाने लगी, "हमारे-तुम्हारे दिल की नाराज़गी कैसे दूर हुई, मैं नहीं जानता? लेकिन जब प्रभात हुआ तो दूर क्षितिज में यह दिल भटकता रहा और बादलों में खोजता रहा तुम्हें। जब तुम्हें अचानक देखा इसने तो हट गया सामने से, शायद अपनी नराज़गी प्रकट करने। मैंने इससे क़हा, "अपने पार्थक्य की अनुभूति तुम्हें भटकाती और

तड़पाती है। तुम जीवात्मा का यह भटकाव नहीं देखते।" और उस दिन यह जान सका तुम्हें जब तुम खोजती, ढूंढती आ गयीं और आकर कहा, "प्रोफेसर साहब, आज का मौसम बहुत अच्छा है बोटिंग के लिए, चलिए न।" बोट लेकर पानी को तेजी से चीरते हुए पतवार जब चल रहे थे तो याद है तुमने कहा था, "आखिर, इतनी जल्दी क्या है? नाव धीरे-धीरे खेइए। देखिए, ज़रा मेरी ओर। इसी पोज़ में बैठे रहिए न थोड़ी देर।" और जब हवा ने गहरा मज़ाक किया तब समझीं तुम, मेरे तेज़ी से नाव खेने को। तुम उठीं और मेरे बाल संवारने लगीं। तुम बनातीं और शीत पवन बिगाड़ देती, न जाने क्यों? तुम दोनों के संघर्ष में, सचमुच, मैं खो गया क्योंकि तुम्हारा प्रथम स्पर्श था वह। मेरे शरीर में एक अजीब स्पन्दन। सम्पूर्ण शरीर सिहर उठा और सुधबुध भूल गया सब अपनी। इस पर तुमने कहा था, "ये क्या मूड बना बैठे? मैं इस मूड में तुम्हारा फोटो नहीं बनाऊंगी।" नाव इतने में दूसरे किनारे आकर लग गयी और तुम भागीं उन झुरमुटों के बीच और छिप गयीं कहीं पर। मैं ढूंढ़ता था विक्षिप्त बनकर, कभी उन झुरमुटों की दूर पंक्ति में तो कभी उन कटीली, अल्हड़ बेरियों में। बहुत कोशिश की खोजने की लेकिन कौन तुम्हें चुरा ले गया? मैं क्रोधित हो उठा। अचानक एक झुरमुट हिला और मैं समझ गया तुम इसी में हो। मैं भागा तुम्हें पकड़ने के लिए किन्तु तुम न आ सकीं मेरे हाथ और मेरे हाथ तुम्हारी साड़ी का आंचल, ऐसे लगा जैसे दे रहा था द्रोपदी को चीर। लेकिन दूर जाकर तुम एकदम ज़ोर से चीख पड़ीं। एक काँटा तुम्हारे पैर को चूमता था। मैंने दौड़कर उसे निकाला और फेंक दिया दूर नाराज़ होकर। याद है जब तुमने कहा था, "कैसे धन्यवाद दूँ? जैसे ही मैंने सहारा देकर तुम्हें उठाया और अनायास मेरे हाथ अपने हाथों में लेते हुए और खोते हुए अपने को मेरी आँखों में, तुमने कहा था, "प्रोफेसर साहब, एक बात पूछूं नाराज़ तो नहीं होइएगा।"

"नहीं।"

"यदि कोई नासमझ लड़की आपसे मुहब्बत करने लगे और आपको पता न हो इसका तो आप क्या करिएगा?" मैंने बीच में टोकते हुए कहा था, "देखो गगन में, इन आवारा बादलों को। चांद को कैसे घेरे हैं? बेचारा निकलना चाहता है किन्तु उसे निकलने नहीं देते। इनकी छेड़छाड़ को तुम क्या कहोगी प्रेम या वासना?" याद है, तुमने क्या उत्तर दिया था, "जहाँ प्रेम का पवित्र दीप जलता है वहाँ वासना की गंध नहीं आती। वासना का जौ भर रूप प्रेम के दीपक को बुझा देता है। प्रेम रूप को नहीं देखता, लटकते, घुंघराले रेशमी बालों को नहीं देखता और न मदभरे नैनों और अलमस्त चाल को ही देखता है। प्रेम हृदय की वस्तु है। इसका न कोई रूप, न रंग और न स्वाद है। वासना एक विकार है और यह प्रेम के साथ संयुक्त नहीं की जा सकती। ये आवारा बादल प्रेम को क्या समझें? ये तो चांद के रूप के लोभी हैं और अपनी वासना की प्यास बुझाने के लिए इसके आस-पास मंडराते हैं। जैसे ही प्यास बुझेगी इनकी ये अपनी राह ले लेंगे और फिर चांद

इस सूने गगन में अकेला ही भटकेगा। चांद का प्रेम सच्चा और अनन्त है। जब ये रूप के लोभी घुमक्कड़ बादल अंधियारे में भटक जाते हैं तो यही प्रकाश की किरण उनके पथ पर बिखेर देता है। यही नहीं, जब इसकी स्नेह - रश्मियाँ इस भूतल के प्राणियों को छूती हैं तो प्रेम की पागल भूख उन्हें आकुल कर देती है। अपनी प्रिया के रूप को ये ऐसे निहारते हैं जैसे चांद के रूप को ये मदहोश बादल।" मैंने कहा, "देखो, तुम्हारे चांद की शादी हो रही आज। नगाड़े बज रहे हैं आकाश में। बादलों की बहुरंगी बारात बड़े धूमधाम से निकल रही है। मुहब्बत की दौड़ में सच्चे निकले दोनों। और यह आकाश देखता ही रह गया।" इतने में ज़ोर की बिजली कौंधी आसमान में और आँखे चका चौंध हो गयीं। तुम भागीं उस ऊंचे रेतीले टीले से और आकर चिपट गयीं मुझसे। मेरा दिल तुम्हारे दिल की धड़कनों को सुनता था। तुम्हारी धड़कनों की गति इतनी तेज़ थी जैसे उन सूनी रेल की पटरियों पर रेल के पहिए भागते हों। मैंने कहा, "तुम्हारा दिल तो बहुत तेज़ी से चल रहा है।"

"हाँ, मैं घबरा गयी बहुत। मुझे बिजली से डर लगता है।"

"देखो, आसमान में, चांद कहाँ है? बादलों के अंक में जा छिपा है। यह भी बेचारा शायद डर गया बिजली से तुम्हारी तरह। अच्छा, यह चांद की वासना है या प्रेम। वासना प्रेम की चेरी नहीं होती तो क्या हम चांद और इन अलमस्त बादलों की प्रणय-लीला देख पाते? कोरी वासना प्रेम तो नहीं हो सकती, यह सच है, लेकिन ऐसा मालूम पड़ता है प्रेम के साथ वासना की शादी कर दी है विधाता ने, तभी तो दोनों साथ-साथ रहते हैं। आत्मा की परमात्मा के साथ तादात्म्य की इच्छा, क्या तुम इसे वासना कहोगी? आत्मा का पार्थक्य ही तो उसे विह्वल किए रहता है और मिलन की राह पर दौड़ाता रहता है। तादात्म्य ही उसे भटकाव के चक्र से विमुक्त कर देता है। यही वह रस है जिसके लिए ज्ञानी तरसते हैं। वे आवागमन के भटकाव से बचना चाहते हैं। ऐहिक जगत् के हीनतर सुखों की अपेक्षा स्वर्ग का उच्चतर सुख उनके जीवन की साध होती है। मिलन की इस उत्कट इच्छा को तुम वासना नहीं कह सकतीं। और देखो, इस जल-राशि के साथ पवन कैसी क्रीड़ा कर रहा है? उसे गुदगुदाकर, उसमें श्वेत चांदी की लहरें उठा दीं। इस बेशर्म पवन की शरारत तो देखो, अपनी दुलहिन का घूंघट उठा रहा है और प्यार की हल्की-सी चपत लगा दी उसके उभरे कोमल गाल पर। और देखो, वासना का साक्षात् रूप, चूम लिया बलात् उसने, उसके रक्तिम अधरों को। कैसा कंपन, कैसी थिरकन और सिहरन पैदा कर दी उसके अंग-अंग में। बेचारी संभल नहीं पा रही। और जब दौड़ी पकड़ने-तो दूर भाग गया छोड़ उसे तड़पाते हुए। अब कितनी उदास हो गयी? फिर आया, चढ़ा लिया अपनी दुलहिन को अपने वाहन पर। अब इसे सैर कराएगा उन्मुक्त वातावरण में जहाँ कोई देख न सके; कोई नज़र न लगा सके। और ऊपर जाकर फिर, इसे छोड़ देगा। यह धधकेगी विरह की आग में। इस विरहिन का प्रत्यावर्त्तन फिर इसी भूलोक पर। यह बनाएगी हरी सेज इन विशाल भूखण्डों की ताकि

इसका पिया आकर इसके संतप्त मानस की चूंदर उघाड़ सके और कुलबुलाकर इसके चिर प्रतीक्षित आहत अन्तस्तल की प्यास बुझा सके। क्या तुम इसे दोनों की वासना कहोगी? लेकिन, यह तड़पाता क्यों है अपनी दुलहिन को? शायद चिरह गीत सुनने के लिए। यह पृथक्ता ही तो विरह है। यदि यह पार्थक्य नहीं होता तो विरह का जन्म ही नहीं होता, दुःखों की उत्पत्ति नहीं होती और फिर सुखों का मूल्य घट जाता। लेकिन, क्या विरह में सुख की अनुभूति नहीं होती? क्या मिटना सुख की गगरी नहीं उड़ेलता? फिर, शलम दीप पर क्यों मिटता है? उसे ज़रूर सुख मिलता होगा। क्या उसकी आहुति को भी तुम वासना कहोगी? और देखो, रूप का हाट भिन्न-भिन्न रूपों में सजधजकर, ये कलियाँ भौंरों के आकर्षण का केन्द्र बनी हैं। रूप की बिक्री खुलेआम। भौंरों का वह समूह बिखर गया। कलियाँ स्वागत कर रही हैं। कलियों के बाहुपाश में भौंरे। लेकिन यह क्या? एक कली किन्तु तीन भौंरे। क्षत-विक्षत कर दिया उसे। चूस लिया उसके जीवन-रस को और चल दिए। कोई सामाजिक नियंत्रण नहीं। प्रेम रहित यौन-सुख की यह एकमात्र कामना एक विकार है जिसे तुम वासना कह सकती हो। लेकिन देखो, दूसरे तट पर दूल्हा और दुलहिन गंगा-माँ का आशीष लेने के लिए आए हैं। कैसा विचित्र समाज है हमारा? दुलहिन दूल्हा को दे दी गयी भोग के लिए। कोई प्रेम नहीं था दोनों में। न कभी देखा, न सुना और एकदम निपट अपरिचित एक दूसरे से। बलात् भोग, चाहे रूप ने मोहा हो या नहीं। इसे क्या कहोगी प्रेम या वासना? और मज़ाक देखो, इस वासना की परिणति प्रेम में। दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख के साथी। मिटने और जीने की शपथ साथ-साथ। वासना ने प्रेम पैदा कर दिया और कभी प्रेम वासना को उद्दीप्त करता है। फिर भी, सच्चा प्रेम कभी बंधता नहीं जाति, धर्म, रूप, रंग और राष्ट्रीयता में। यह अनन्त और अटल है। वासना विपथगामी हो जाती है किन्तु प्रेम नहीं। प्रेम किया नहीं जाता, हो जाता है अनायास। क्यों होता है प्रेमी नहीं जानता है?"

तुम बोलीं, "अच्छा प्रोफेसर साहब, मैं हारी आप जीते। आपसे मैं जीत भी कैसे सकती हूँ? अब चलना नहीं है क्या?" फिर पतवार तेज़ी से पानी को चीरते हुए नौका को आगे बढ़ाने लगे।

"लेकिन ये किधर चल दिए? उस मटमैले टीले के नीचे भंवर है। बड़ी भयंकर है। वहाँ जाकर कोई बच नहीं सका। अरे! आप तो उधर ही नौका खे रहे हैं। ये क्या कर रहे हैं? देखो, कोई चिल्ला रहा है, "उधर नौका न खेओ, भंवर है भंवर।" लेकिन मैं शान्त। उस विकराल भंवर की ओर एकमात्र दृष्टि जैसे अपने बाहुपाश में भरलेने के लिए मचल रही हो और जादू की डोर डाल दी हो। पतवार पानी को और तेज़ी से हटाने लगे। नाव भंवर की ओर बढ़ने लगी। तुम चीख पड़ीं। मुझे झकझोर दिया और पतवार छीन लिए। लेकिन अब क्या था? अब तो नौका भंवर की गोद में थी। दोनों ओर उन माटी के टीलों के बीच बहती हुई गंगा। निस्तब्ध वातावरण केवल आवाज़ उस चक्रदार भंवर की। आस-पास कोई घाट नहीं, झौंपड़े नहीं और

न जनरव ही। केवल चांद का एकमात्र सहारा। देखता था यह हमारे और भंवर के इस प्रणय-बन्धन को। सोचता था मैं, भागीरथी! तुम्हारा इतिहास सांस्कृतिक और शताब्दियों पुराना। इस विशाल देश के जन-मानस को जीत लिया तुमने तभी तो भक्त तुम्हारे द्वारे आशीष के लिए भटकते हैं और तुम्हारी आराधना साक्षी बनाकर चांद और सूरज को करते हैं। लेकिन तुम्हारा यह आशीष कैसा? एक घाट आशीष का तो दूसरा विनाश का। क्या एकमात्र व्यक्तियों की यह भ्रांति है? विनाश की इस प्रणय-लीला से जो बच जाता है भूल से, क्या उसे वे आशीष समझते हैं? अचानक मेरी दृष्टि तुम पर पड़ी। तुम हांप रही थीं। शरीर तुम्हारा बेहद थक चुका था और अभी भी कोशिश कर रही थीं भंवर से नाव निकालने की। लेकिन निराश हो गयीं और अचानक पतवार मेरे हाथ में देते हुए तुमने कहा था, "पतवार चलाते रहिए।" और फिर समाधि लगायी तुमने। मैं देखता था निर्निमेष तुम्हारे उस अलौकिक रूप को। आकुल मुखमण्डल धीरे-धीरे शान्त और गम्भीर हो गया। और अनायास तुम्हारे मुख से प्रस्फुटित शब्द हुए ये, "माँ, मैं सुहाग की भीख मांगती हूँ। तुम्हें यदि तृप्ति ही करनी है अपने मानस की तो मेरी बलि ले लो। लेकिन मेरे जीवन-धन को बचा दो।" मैं बीच में ही बोल उठा, "नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम्हारे बिना मेरे जीवन का कोई मूल्य नहीं। जीवन रहित जीवन मुझे नहीं चाहिए। माँ, मैं प्रस्तुत हूँ।" और कूद पड़ा उस विनाशकारी भंवर में। तुमने अनुगमन किया मेरा। पता नहीं उन चंचल भंवरों का चक्रसमूह कहाँ खो गया? और मुझे ऐसा लगा जैसे किसी अदृश्य शक्ति ने पकड़कर फेंक दिया दूर। सामने देखा, नाव पड़ी थी उस अपार जल-राशि में और तुम तेज़ी से मेरे पीछे चली आ रही थीं। मैंने नाव पर चढ़कर तेज़ी से नाव खेई और समीप आकर, हाथ पकड़कर चढ़ा लिया तुम्हें। तुम्हारा वह आलिंगन अविस्मरणीय। तुम्हारा चांद-सा मुखड़ा मेरे दोनों हाथों में। मैंने चांद से कहा, "चांद ज़रा बदली में छिप जाओ न।" सचमुच, वह उन मेघ-समूहों में कहीं लुक गया। और फिर, मैं तुम्हारी उस रूप-राशि में खो गया। अचानक जब चेतना आयी तो मैंने कहा, "आज मुझे छोड़कर जा रही थीं। क्या एक दिन ऐसे ही चली जाओगी? और मैं जीवन की इन सूनी राहों पर विक्षिप्त बनकर, तुम्हें आवाज़ देता हुआ भटकुँगा और मालूम है ये राहें मुझे क्या कहेंगी - "पागल है।" लेकिन ये जानती कहाँ है कि प्रेम का सच्चा रूप पागलपन ही तो है। ऐसा पागलपन जिसका नशा कभी नहीं उतरता।

अध्याय – 6

मैंने कहा, "वनिता, प्रो. चटर्जी का यह प्रेम और वासना का संतुलित विचार कितना व्यावहारिक है? वासना सम्बन्धी मेरे अपने विचार बड़े धुंधले और अस्पष्ट थे। आज मैं समझी कोरी भोग की कामना ही वासना है। लेकिन सामीप्य, तादात्म्य और वासना का व्यौपार प्रेम के साथ स्वाभाविक है। वनिता, तुम इस पत्र से क्या समझती हो?"

"मैं क्या समझूँ? उनकी लिखने की अपनी एक शैली है जो रोचक है। मंझी हुई भाषा और चित्रण बड़ा स्पष्ट और हृदयग्राही है।"

"नहीं, मैं यह नहीं पूछ रही। यह तो तू ठीक कहती है। लेकिन यह कौन है जिसने उन्हें ठग लिया है? कौन उन्हें प्रेरणा देता है लिखने की? किसी का वियोग उन्हें तड़पाता अवश्य है और यह विरही आग तभी तो उनके मानस से निकलती है?"

"मैं क्या जानूं कौन उन्हें तड़पाता है? तुम्हारी इस उत्कट जिज्ञासा का रहस्य मैं समझ नहीं पाती।" वनिता ने इतना कहा और खो गयी विचारों में और फिर सहसा उसकी आँखें सजल हो गयीं। मैंने कहा, "अरे! तुम रोने क्यों लगीं?"

"कुछ नहीं, वैसे ही। अच्छा, अब मैं चली। काफी देर हो गयी। मम्मी नाराज़ होंगी।" वनिता चली गयी। मैं सोचती थी, यह बताना भी नहीं चाहती और रोती भी है। कुछ भी हो, यह प्रेम अवश्य करती है। अगले दिन जब मैं विश्वविद्यालय पहुंची और प्रो. चटर्जी के कक्ष में जैसे ही प्रवेश के लिए चली तो देखा वनिता खड़ी थी और प्रो. चटर्जी कुछ कह रहे थे। जब गर्ल्स रूम में वनिता आयी तो मैंने कहा, "बड़ी चुप-चुप बातें हो रही थीं। क्या कह रहे थे?

"तुम तो आयी थीं, सुन क्यों नहीं लिया?"

"अच्छा, बोलो भी, क्या कहते थे?"

"कहते थे, विनिमय पर प्रश्न क्यों लिखकर नहीं लायीं? परीक्षा इतनी सन्निकट आ रही है और तुम अभी भी उदासीन हो। तुम्हारी प्रथम श्रेणी मिस नहीं होनी चाहिए।" और ऐसा कहकर वह गम्भीर हो गयी। थोड़ी देरके बाद, उसकी उन भारी-भारी अलसाई आँखों में हल्की-सी तरलता दौड़ गयी।

"इसमें उदास होने की क्या बात है? तुम्हारे भले की ही तो कहते हैं। एम.ए. में तुम्हारी प्रथम श्रेणी नहीं आयी तो तुम्हारा अब तक का फर्स्ट क्लास कैरिअर बेकार हो जाएगा।" मैंने कहा। वह चुपचाप सुनती रही और जैसे-जैसे दिन बीतने लगे मैं उसमें एक अजीब परिवर्तन देखने लगी। नितान्त गम्भीर, सदैव चिन्तन में डूबी। किसी से कोई बात नहीं। यहाँ तक कि प्रो. चटर्जी के पास भी नहीं जाती। पुस्तकालय में तीन-चार घंटे बैठी रहती और पुस्तकों से नोट्स लेती रहती। कब आती और कब चली जाती कोई नहीं जानता? मुझसे भी बात नहीं करती थी। जब कभी कुछ पूछती तो 'हाँ' और 'नहीं' में उत्तर दे देती। केश-विन्यास, आकर्षक ड्रेस और मेक-अप सभी कुछ भूल गयी। केवल एक भूख पढ़ने की। नित नईं पुस्तकें उसके हाथ में देखने को मिलतीं। एक दिन बहुत खिन्न, चेहरा उतरा-सा और आँखे लाल अंगारे जैसी। मैंने जो उसका शरीर छुआ तो जल रहा था।

"अरे! तुम्हें तो टेम्प्रेचर है। दो से कम नहीं होगा। तुम ऐसी स्थिति में विश्वविद्यालय क्यों चली आयीं? चलो, मैं घर पहुंचा देती हूँ।" मैंने कहा।

"नहीं, मैं नहीं जाऊंगी। प्रो. चटर्जी का पीरिअड है न। चलो, देर हो रही है।" पीरिअड के बाद, वह बोली, "अब मैं घर जा रही हूँ।"

"मैं तेरे साथ घर चली चलती हूँ।"

"नहीं, मैं अकेली चली जाऊंगी।" अगले दिन भी वह नहीं आयी। विश्वविद्यालय के बाद, जब मैं घर गयी तो वह सो रही थी।

"मम्मी, वनिता की तबियत कैसी है? बुखार उतरा या नहीं।" मैंने कहा।

"डॉ चक्रवर्ती ने टाइफाइड बताया है। ज़िद बहुत करती है। बुखार में भी नहाती रही और दवा के लिए कहती तो लेती नहीं थी। बारह बजे तक पढ़ती रहती। जब मैं जाकर चुपचाप मेन स्विच बन्द करती तो कहीं जाकर सोती। अभी-अभी सोई है।"

"अच्छा मम्मी, मैं कल आऊंगी। आज मुझे काफी देर हो गयी है।"

सात-आठ दिन जब वह विश्वविद्यालय नहीं आयी तो प्रो. चटर्जी ने मुझसे क्लास में ही पूछा, "अनु, वनिता क्यों नहीं आ रही?"

"उसे टाइफाइड हो गया है।"

"परीक्षा सिर पर है और बीमार हो गयी। मुझे भय है कहीं इसकी फर्स्ट डिवीजन न रह जाए।" प्रो. चटर्जी ने व्यथित भाव से कहा।

"आज उसकी तबियत ठीक है। शायद कल से आने लगे।"

जब वनिता के घर गयी तो देखा वह बड़ी आकुल और व्यथित थी।

"प्रो. चटर्जी आए थे।" उसने देखते ही प्रश्न किया।

"हाँ।"

"कब चले गए?"

"यह तो मैं नहीं जानती।"

"चलो, हम उनके घर चलें।"

"क्यों? इतनी जल्दी क्या है?"

"मुझे उनसे एक किताब लेनी है।"

"तुम मुझे बता दो, मैं कल ला दूंगी।"

"नहीं।"

मम्मी ने बीचं में टोकते हुए कहा, "बिटिया, मैं भी इससे जाने के लिए मना कर रही हूँ। चला जाता नहीं है लेकिन रट लगाए है। सोते-सोते अचानक चीख पड़ी और रोने लगी, तभी से ज़िद किए है कि मैं प्रो. चटर्जी के यहाँ जाऊंगी।"

"क्या बात है बताती क्यों नहीं है? क्या कोई स्वप्न देखा है?" मैंने साग्रह कहा।

"हाँ।"

"क्या स्वप्न है?"

"प्रो. चटर्जी के साथ कार एक्सीडेन्ट हो गया है।" और फूट-फूट कर रोने लगी।

"अच्छा, मैं उनके घर जाकर देख आती हूँ।"

"नहीं; मैं भी चलूंगी तेरे साथ।"

"अच्छा, चलो।" घर पहुंचे तो नौकर मिला। हमने उससे पूछा, "प्रो. चटर्जी कहाँ है?"

"बिटिया, सदर अस्पताल में हैं। कार लड़ गयी, बड़ी चोट आयी है।" और रोने लगा।

"वनिता, तुम्हारा स्वप्न सच्चा निकला।" मैंने कहा। लेकिन वह संज्ञाहीन होने लगी।

"अरे! यह क्या करती हो?" मैंने उसे पकड़ते हुए कहा।

थोड़ी देर बाद, बोली, "चलो, सदर अस्पताल चलें।"

"तुम काफी कमज़ोर हो और सर्दी बढ़ रही है। सात बज रहे हैं। मैं घर से प्रदीप को भेज दूंगी और फोन पर तुझे सारी स्थिति से अवगत करा दूंगी?"

"नहीं, हम अस्पताल चलेंगे, चलो।"

हम अस्पताल आए। मालूम हुआ प्रो. चटर्जी ऑपरेशन थियेटर में हैं। स्थिति गम्भीर है। डॉक्टर ने बताया कि ब्रेन की नस फ्रेक्चर हो गयी है। यह सब सुनकर वनिता पागल हो उठी। सभी के मना करने के बावजूद, वह ऑपरेशन थियेटर में घुस गयी। हक्का-बक्का-सी वह अचेत पड़े प्रो. चटर्जी को देखने लगी। प्रो. चटर्जी आपरेशन टेबिल पर पड़े थे। उनके सिर को बेन्डेज किया जा रहा था। चेहरे पर भी चोट के निशान थे। दांयी बांह और पैरों में भी चोट आयी थी। ड्रेसिंग हो जाने के बाद, सर्जन ने कहा, "ऑपरेशन तो सफल हो गया लेकिन ब्लड चाहिए।"

वनिता तुरन्त बोल उठी, "आप मेरा ब्लड ले लीजिए।"

"नहीं, डॉक्टर साहब यह तो कमज़ोर है, अभी टाइफाइड से उठी है। आप मेरा ब्लड ले लीजिए।" मैंने साग्रह कहा।

"मैं दोनों का ब्लड लेकर देख लेता हूँ जिसका ठीक होगा उसका ले लिया जाएगा।" सर्जन ने हम दोनों पर एक विहंगम दृष्टिपात करते हुए उत्तर दिया।

जब सर्जन ने वनिता से कहा, "आपका ब्लड लिया जाएगा। आप बेड पर चलिए।" यह सुनकर वह फूली न समायी। उसका मलिन मुख खिल उठा। जैसे ही वनिता के शरीर से रक्त निकलने लगा उसके चेहरे पर एक अलौकिक ज्योति थिरकने लगी। एकटक वह निहार रही थी प्रो. चटर्जी के मुख को और जैसे ही प्रो. चटर्जी में संचेतना आयी और उन्होंने अपनी आँखे खोलीं, वह प्रमुदित हो उठी। उसका चेहरा मुस्कानों से भर गया। प्रो. चटर्जी ने वनिता की ओर देखा और उनकी आँखे कृतज्ञता से झुक गयीं। वे विचारों

में डूब गए। वह बेड से उठी और प्रो. चटर्जी के पास जाकर बोली, "प्रोफेसर साहब, अब आपकी तबियत कैसी है?"

"ठीक है।"

"वनिता तुम तो बहुत कमज़ोर हो गयीं।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। अब मैं स्वस्थ हूँ।"

मैंने और वनिता ने प्रोफेसर चटर्जी से अभिवादन कर विदा ली और घर पर आए तो देखा अनूप मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मैंने वनिता से कहा, "अब तुम्हें आराम की आवश्यकता है। कमजोरी अधिक आ गयी है। अच्छा, अब मैं चल रही हूँ।"

प्रतिदिन प्रो. चटर्जी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जाकर मैं उसे बताती। बार-बार अस्पताल चलने के लिए वह ज़िद करती किन्तु मम्मी और मेरे समझाने पर बड़ी मुश्किल से वह मान पाती। प्रोफेसर चटर्जी दस दिन के बाद, अस्पताल से घर गए, किन्तु अभी बहुत कमज़ोर थे। विश्वविद्यालय ठीक एक मास के बाद आए। कुछ सम्भावित प्रश्न डिस्कस किए और फिर क्लास छोड़ दी। वनिता ने कहा, "साथ-साथ घर चलेंगे। मैं अभी आ रही हूँ प्रो. चटर्जी से एक पुस्तक लानी है।" वह पुस्तक लेकर लौटी। घर के लिए रिक्शा किया और फिर, वह रिक्शा दौड़ने लगा उस ठंडी सड़क पर।

अध्याय – 7

मैंने कहा, "वनिता, यह कॉफी कबसे पीने लगी?"

"अभी थोड़े दिनों से।"

"तब तो तुम अब बिलकुल आधुनिक हो गयी हो।"

"इसमें आधुनिक होने की क्या बात है? यदि कोई सोमरस पीने लगे तो तुम क्या उसे पुरातनवादी कहोगी? फिर, जो चाय पीते हैं वे भी तो आधुनिक ही हैं। और तुम तो मुझसे अधिक प्रगतिशील हो, इस शीत लहरी में भी, गन्ने का रस अधिक पसन्द करती हो। भारत में लोग प्रातः बेड टी लेते हैं किन्तु अमरीका में ऑरेन्ज जूस लेते हैं। कौन आधुनिक है?

"तुमसे वाद-विवाद में कौन जीत सकता है? अच्छा, यह बताओ प्रो. चटर्जी का कोई पत्र मिला या नहीं।"

"हाँ मिला है, सुनोगी।"

"हाँ।"

"लो सुनो।" पुस्तक से पृष्ठों को निकालते हुए उसने कहा।

तुम्हें ध्यान है जब मैंने कहा था, "उस पेड़ पर क्रौंच पक्षियों के जोड़े को देखो। नर और मादा कितने सुन्दर हैं? लेकिन यह क्या? मादा उदास, अनमनी और विचारों में डूबी हुई दिखाई देती है। देखो, उसकी बड़ी-बड़ी आँखे भर आयीं। क्यों रोती है यह? शायद नर ने इसके अन्तस्तल को उत्पीड़ित किया है। उसके गोल-गोल मोतियों ने नर के मानस को द्रवित कर दिया। उसका भी मुखमण्डल कान्तिहीन हो गया। नर मादा को प्यार करने लगा। लेकिन इतना चुम्बन, इतना आलिंगन और इतना अधिक प्यार भी

उसकी अन्तरपीड़ा को शान्त नहीं कर सका। बात इतनी गहरी और तीखी है जो विस्मृत नहीं होती तभी तो उसकी आँखों में बरसाती बाढ़ रुकती नहीं है। उसके भारी और सूजे पलक यह बताते हैं कि वह रातभर रोती रही है। लेकिन इन बड़ी-बड़ी आँखों का सौन्दर्य रोने में नहीं है। सचमुच, इसकी आँखें इतनी सुन्दर हैं कि इस मादा को अजायबघर में रख देना चाहिए। लेकिन यह नर तो तड़पेगा और प्राण दे देगा इसके बिना। नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिए। ईश्वर ने जब इसके पंखों में ऊंची उड़ान की शक्ति दी है तो फिर इसे क्यों गुलाम बनाया जाए? सचमुच, ये अजायबघर शोषण के प्रतीक हैं। दासता अथवा शोषण सौन्दर्य को घटाता है। देखो, नर ने मादा के पैर चूम लिए। अपना शीश उसके चरणों में समर्पित कर दिया। लेकिन मादा अभी भी क्लान्त और व्यथित। विषाद की रेखाएं इतनी गहरीं कि मादा ने नर के अतुल प्यार, सतत चुम्बन और आलिंगन को ठुकरा दिया और वह उड़कर जा बैठी दूसरे पेड़ पर। शायद पेड़ की वह डाल उसका घर है। नर किं कर्तव्य विमूढ़। लेकिन वह भी उड़ा और उसके पास जा बैठा। यह कैसा वैचित्र्य? नर उदास, चिन्तित, और उद्विग्न। मादा के चेहरे पर अब मुस्कान खेलने लगी। वह चूमने लगी उसे और हरने लगी उसकी मानस-पीड़ा को। मानव और पशु-जगत के स्वभाव और आचरण में कितना साम्य है? याद है मैंने कहा था, "तुम भी तो ऐसा ही करती हो मेरे साथ।" और तुमने प्रत्युत्तर में कहा, "और आप। आप कितना परेशान करते हैं मुझे? ज़रा बोली नहीं, देखा नहीं तो कितने बिगड़े। न जाने क्या-क्या कहा? मैं चुपचाप सुनती रही। मैं सोचती थी इनका मन हल्का हो जाएगा, कह लेने दो। मैं कहती रही बार-बार, "ऐसी कोई बात नहीं। आप फील नहीं कीजिए।" मैंने बहुत कोशिश की मनाने की लेकिन पता नहीं आपको इतनी भ्रान्ति कैसे हो गयी थी? साधारण-सी बात पर इतनी नाराज़गी। मेरी ज़िन्दगी का पहला अनुभव था। उस दिन मैं समझ गयी, आप भावुक हैं। ज़रा-ज़रा-सी बात आपके दिल को व्यथित कर देती है। भविष्य में संभल-संभलकर कदम रखूंगी। और जब चले तो मैंने देखा आपकी आँखों में अभी भी हल्की-सी उदासी थी। मैं मुस्कराई क्योंकि मैं जानती हूँ मेरी मुस्कान आपके दिल को हरा-भरा कर देती है। आप चले गए और मैं देखती रही उन सूनी तंग सड़कों को जो आपका साथ दे रही थीं।

मैं नहीं जानता, मैं सोता था या विचारों में डूबा अपने अतीत के दुःखद पन्नों को उलट रहा था। सचमुच मुझे नहीं मालूम तुम कब आयीं और कब आकर मेरे शाल को उघाड़ा। शायद देखती रही हों कुछ क्षण, मेरी उस अन्तरपीड़ा को जो मेरे मुख पर आकर बिखर गयी थी। मैंने आँखें खोलीं। तुमने कहा, "क्या तबियत खराब है आपकी?"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। लेकिन रातभर सो नहीं सका।" न जाने क्यों, फिर, मेरा हृदय सुबकने लगा? सचमुच, मैं रातभर रोता और तड़पता रहा। तुम्हारे प्रति जबरदस्त रोष लेकिन अहित का भाव नहीं। एक अजीब

सामंजस्य घृणा और स्नेह का। सचमुच मैं सह न सका तुम्हारे उस व्यौपार को। मैं प्रगतिशील होता हुआ भी अप्रगतिशील हो गया। क्यों? नहीं जानता। आज सोचता हूँ बैठा कोसों दूर। कितने सुन्दर मुस्काते मुखड़े मेरे पास आते हैं और जी खोलकर बातें भी होती है न। कभी-कभी तुम भी साथ होती हो और कभी मेरी बातें तुम तक पहुंचा दी जाती हैं। तुम भी तो जानने के लिए आतुर रहती हो। और हाँ, कभी तुम बिलकुल नहीं जान पातीं, कौन आया और गया? लेकिन तुम्हारा विश्वास मुझमें क्यों और कैसे है, नहीं जानता? सोचता हूँ यह तो तुम्हारी उदारता, वैचारिक उच्चता, आधुनिकता और मनोवैज्ञानिक क्षमता है जिसने मुझे बरबस खींच लिया है। लेकिन क्यों मेरे विश्वासों का प्रासाद उस दिन ढहा। दो सेकिन्ड की वह घटना मेरी जिन्दगी से खिलवाड़ करने चली थी। सचमुच, मेरी जीवन-नौका उस अप्रत्याशित तूफान के थपेड़े खाकर डगमगा गयी थी। मैं संभल नहीं पा रहा था और किंकर्तव्यविमूढ़ता बढ़ गयी थी। तुम्हें याद है मैं दहक रहा था और मेरे दिल की आग से तुम ताप रही थीं। अपने आप नहीं, मैंने विवश किया था। मैं इतना तपा और तपाया कि एक सुन्दर नीड़ की कल्पना जो कभी की थी ध्वस्त हो गयी। "मैं मिट चुका हूँ, समझ लो।" यही था न वह वाक्य जिसने तुम्हारे स्वच्छ हृदय को बेध दिया था और तुम जोर से चीख पड़ीं, सुबक पड़ीं। लेकिन अविश्वास के चरम रूप ने मेरे मानस को झकझोर दिया था। पता नहीं कौन तुमसे तुम्हारे अपराध को स्वीकार कराने को कहता था? अपराध न करके अपराध स्वीकार करना क्या यह विवशता नहीं है? जीवन की विवशता। तुम जानती थीं मेरी हठवादिता कहीं चिरसंचित प्यार को धूल-धूसरित न कर दे। लेकिन मैंने तुम्हें क्षमा नहीं किया। जन-पथ पर आकर भी तुमने यही कहा, "क्या मुझे क्षमा नहीं कर सकते हो? यदि मुझसे भूल हो गयी है तो क्षमा कर दो। "लेकिन मैंने सचमुच क्षमा नहीं किया था। मैं जानता हूँ तुम्हारे भारी पलक और उदास मुखड़ा जो सदा मुस्कानों के साथ खेला करता था, बताता था तुम्हारे साथ रात क्या बीती है? किसी निर्मोही ने तुम्हारी मुहब्बत को समझा नहीं। तुम्हें याद है मैंने क्या कहा था? "मैंने निष्ठा से तुम्हारी पूजा की है किन्तु तुमने मेरे प्यार को ठुकरा दिया है। " दोनों यही सोचते थे एक-दूसरे के प्रति। रात कैसे बीती दोनों जानते हैं? मेरे मन का कालुष्य हलका हुआ किन्तु नाराज़गी अभी भी थी। सोच लिया था बोलूंगा नहीं। मेरे मना करने पर भी अपराध और मेरी मान्यता है अपराधी को दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। सिद्धान्त और आदर्श का उपासक हूँ न। मेरे पास दण्ड यही था जो दे रहा था। लेकिन मेरे कदम उस बंगाली टोले की ओर। सचमुच, मेरा हृदय तुम्हारा वियोग सह न सका। कैसा नेह है यह? सच्चे प्यार में कहीं ऐसा भी होता है जो मैं कर रहा था। उस सूने टीले के पास जब मैंने तुम्हें देखा तो मेरा हृदय भर आया और भारी हृदय लेकर सिसका। पता नहीं सिसकते-सिसकते आँखें कब लग गयीं? हो सकता है. तुम्हारा प्यार मुझे सुलाता रहा हो। याद है जब मैंने कहा था, "यह प्यार कैसा है? कभी हंसाता है तो कभी रुलाता है।" फिर मेरी सांसों ने सारी कहानी तुम्हारी सांसों से कही।

कितना सताया था मैंने तुम्हें। प्यार का व्यौपार कब तक चलता रहा, याद है कुछ? आज भी सोचता हूँ मेरी यह पाती प्यार के तुम्हारी कोई और न पढ़े। मालूम है क्यों? इसलिए कि कोई तुम्हें यह नहीं कहे कि तुम्हारा प्रेमी बड़ा निर्मोही, निर्मम और प्यार के रास्तों से अनजाना है, क्योंकि मैं जानता हूँ यह उलाहना तुम्हारे दिल में टीस पैदा कर देगा और फिर वह रो उठेगा।

सचमुच, तुम आयीं तो जिन्दगी की बहारें लायीं। सारा घर जगमगा उठा। तुमने मुस्कानों की गगरी बिखेर दी। कितना जादू है तुम्हारे व्यक्तित्व में। याद है अपनी बीती सुनाई थी मैंने और तुम चुपचाप सुनती रही थीं - क्यों, नहीं जानता? कुछ भी तो नहीं कहा। केवल कुछ बुद-बुदाने के अलावा बिलकुल मूक बनी रहीं। तुम सचमुच रहस्यमयी हो। दिल देकर भी रहस्य, समझ नहीं आता मुझे। वे थोड़े-से क्षण मुझे जिन्दगी दे गए। नाराज़गी थी बहुत और अन्तिम समय तक बनी रही। तुम नहीं जानतीं तुम्हारा रूप मेरी जिन्दगी की आयु बढ़ाता है और यह कितनी घट गयी तुम्हारे वियोग में, काश! तुम जान पातीं। मेरा चेहरा जो तुम्हें देखकर खिल उठता था, आज खिला नहीं। आभाहीन, बुझा-बुझा-सा अपने दुःखद अतीत की परतें उलटता रहा। तुमने कितनी कोशिश की मेरा दिल बहलाने की, याद है कुछ। लेकिन तुम्हारी मुस्कराहट भी रो उठी थी मेरी अन्तरपीड़ा को देखकर और जब चलीं तो उत्पीड़ित और आँखों में हल्की-सी बरसात आ गयी थी तुम्हारे। हल्की बूंदाबांदी तो और दहकाती है।

मेरा मन हल्का हो गया था अपनी बात कहने से लेकिन व्यथित था तुम्हारे दिल को खिन्न करके। रूप का लोभी यह दिल तुम्हारे रूप को बिगाड़ता है। इसे प्यार करना भी तो नहीं आता। प्यार के रास्तों से निपट अपरिचित रहा है न। नहीं तो उस दिन तुम्हारे रूप में डुबकियाँ लगाता और अपने दिल का भार हल्का कर लेता। प्यार के रास्ते की डगर सचमुच बीहड़ है। कभी गिराती है तो कभी उठाती, कभी सुख के दीप जलाती है तो कभी मिटाती। कौन नहीं थका, मिटा और उभरा। उभरे वे जिनका प्यार सच्चा रहा है, मिटे वे जिन्होंने सच्चे प्यार को चूम लिया और राह बना दी मिटने वालों के लिए। थकान तो सभी को सतायी है लेकिन जो थक गया वह रह गया और जो थककर भी, साहस जुटाकर आगे बढ़ता रहा है वही सच्चे प्यार का रस चख सका है। एक हल्की नज़र जो मेरी तुम्हारे रूप पर पड़ी, मैं सिहर उठा था। उस रात स्वप्न में, मैं तुम्हें देखता ही रह गया जब मैंने कहा, "कौन हो तुम?"

"एक परी, चन्दा के देश की।"

"क्या करती हो?"

"चंदा की मुस्कानों के साथ खेलती हूँ।"

"और।"

"आवारा बादलों को उनकी राह बता देती हूँ।"

"इस भूलोक पर अवतरित होने का कारण।"

"आँख मिचौनी खेलने अपने प्रियतम के साथ।"

"तुम्हारा प्रियतम और भूलोक में।"

"हाँ, चंदा के देश का वह राजा था और मैं थी रानी। एक दिन पनघट पर मैं पानी भरने गयी और जब लौट रही थी तो आवारा काले बादल मेरे पथ पर छा गए। सामने दिखाई नहीं देता था कुछ और मैं पिया के रूप में डूबी हुई अपनी गगरी छलकाती चली जा रही थी कि सामने भूल से उस अंधकार में ऋषि-पत्नी को ठोकर लग गयी। ऋषि ने शाप दिया, "तेरे पति को भी ऐसे ही ठोकर लगे और भूलोक में जा गिरे।" तभी से मेरा राजा यहाँ रहता है।"

"और तुम कौन हो?" तुमने प्रश्न किया।

"एक बन्दी।" मैंने उत्तर दिया।

"किसके?"

"इन पँखुरियों के।"

"लेकिन तुम्हारा अन्तस्तल रोता क्यों है?"

"दण्ड मिला है।"

"क्या अपराध किया था?"

"नहीं जानता।"

"दण्ड की अवधि।"

"नहीं जानता।"

"क्या कहते हो? अपराध करके अपराध नहीं जानते और दण्ड की अवधि से भी अनभिज्ञ। यह नहीं हो सकता।"

"सच कहता हूँ विश्वास कीजिए।"

"तब तो यह अन्याय है। लेकिन अब क्या चाहते हो?"

"सोचता हूँ यह चिन्ता जला रही है इस जीवित शरीर को और सामने देखो, चिता धू-धू जल रही है। काश! यह चिन्ता भी चिता में परिणत हो जाए और मेरी चिता का धुंआ उस निर्मोहिन तक जाए और बता दे मैं धूलित हो गया हूँ। तेरी यादों को लेकर सदा के लिए सो गया हूँ।"

"और क्या इच्छा है?"

"जब-जब जन्म लूँ उसका साथ न छूटे। उसके लिए तड़पता और मिटता रहूँ इसी तरह।"

"और कुछ।"

"उसका चेहरा सदा मुस्कराता रहे।"

"एवमस्तु"

"लेकिन तुम जानते हो मेरे पिया को?"

"नहीं।" और फिर, उसने अपनी बांहें फैला दीं और मुझे भर लिया अपने अंक में। मैं खो गया उस में और कब तक प्यार किया, नहीं जानता।

अध्याय – 8

आज पूर्णमासी थी। मैं और वनिता गंगा-तट पर आए स्नान के लिए। बड़ी भीड़ थी। अचानक मेरी दृष्टि प्रो. चटर्जी पर पड़ी। एक भिखारिन उनसे कुछ मांग रहीं थी। गोरी-चिट्टी। चेहरे की बनावट बुरी नहीं। आँखे जरा छोटीं, कहीं बड़ी होतीं तो वह भिखारिन नहीं रहती। रूप का लोभी कोई खरीद लेता उसे। फिर भी, उसका रूप लज्जित है उसके पेशे पर। लेकिन क्या करे बेचारी? समाज का अभिशाप है जो नसीब बनाता और बिगाड़ता है। सुन्दर सुडौल शरीर। उसकी काया फटे चिथड़ों में भी छिपी नहीं। एक स्तन पीता हुआ उसका लाल गोदी में। उसके स्तन उसकी उम्र बताते हैं, भरे हुए बच्चे के सुख से। उसकी आँखों में लज्जा और दीनता का अद्‌भुत सामंजस्य। दूसरा बच्चा पास बैठे हुए रोटी खाने वाले से दीन भाव से रोटी का टुकड़ा मांग ही नहीं रहा बल्कि टकटकी लगाए हुए है शायद पिघल जाए उसका पत्थर का दिल। इतने में रोटी का एक टुकड़ा फेंका इस अभागे को और पास खड़ा हुआ कुत्ता भी टूट पड़ा उस पर। घायल हो गया किन्तु रोटी का टुकड़ा उसके हाथ में। लेकिन भाग्य की विडम्बना, चील ने झपटा मारा और ले गयी। यह हतभागी देखता ही रह गया। पेट के लिए संघर्ष कुत्ता, बालक और चील में। इन्सान के समाज में बच्चा भूखा खड़ा है आहत और क्रोधित। समाजवादी राज्य में भिखमंगे, यह कैसा समाजवाद? बच्चा भूख से आकुल समाजवाद में, लज्जास्पद है। कौन उत्तरदायी इसके उत्पीड़न का राज्य अथवा समाज? दोनों ही। राज्य ने सदा सत्ताशील एवं शोषक वर्ग का ही हित-चिन्तन किया है। वह उसका संरक्षक ही नहीं रहा प्रत्युत उसने पूरी छूट दी है शोषण की। और विनोबा के समाज में, गरीब का मूल्यांकन दान से। दान तो व्यक्ति को अकर्मण्यशील और अनैतिक बनाता है। कितना गहरा मज़ाक है उसकी जिन्दगी के साथ, उसका अधिकार दान हो गया है? वह उत्पीड़क की दया पर आश्रित। संतों की परम्परा यही रही है। उन्होंने भी अधिकार सम्पन्न वर्ग

का ही साथ दिया है। उनके द्वारा दान की महत्ता का प्रवचन तो स्वाभाविक है क्योंकि उनके जीवन और चिन्तन का आधार भी तो दान ही रहा है। मठ, मस्जिद और गुरुद्वारे दान के कारण ही तो खड़े हैं। हमारी प्राचीन परम्परा भी तो भिक्षावृत्ति को श्रेयष्कर समझती रही है। मेरे विचारों की श्रृंखला टूट गयी, जैसे ही वनिता ने कहा, "अनु, क्या देख रही है?"

"प्रो. चटर्जी को।"

"कहाँ है?"

"देखो! उस भिखारिन से बात कर रहे हैं। अब जा रहे हैं। वह भिखारिन भी साथ चल दी।"

अगले दिन जब मैं विश्वविद्यालय पहुंची और गर्ल्स रूम में जैसे ही प्रवेश किया तो वातावरण बड़ा ही अशान्त-सा दिखाई दिया। सभी के चेहरे मुरझाए हुए और परेशान थे। मैंने कहा, "क्या बात है?"

"क्या तूने नहीं सुना?" अतृप्ता ने प्रश्न किया।

"नहीं।"

"क्या तू अभी आ रही है?"

"हाँ।"

"किससे आयी।"

"रिक्शे से।"

"रिक्शेवाला कौन था?"

"हिन्दू।"

"चलो जान बची। उसने कुछ कहा तुमसे।"

"हाँ, कहता था कि हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा हो गया है। मैंने उससे पूछा, "कहाँ हो गया है?" तो उसने कहा, "यूनिवर्सिटी के आसपास कहीं हुआ है।"

"कहाँ झगड़ा हुआ है? क्या बात थी, बताओ न?" मैंने प्रश्न किया अतृप्ता से।

"सुना है फणीन्द्र सान्याल को किसी मुस्लिम गुण्डे ने छुरा मार दिया। रजिया लोदी को भी चोट आयी है। फणीन्द्र की स्थिति चिन्ताजनक है। सिविल हॉस्पिटल में है।"

"रजिया को चोट कैसे आयी?"

"ये दोनों साथ-साथ आ रहे थे। लो, वनिता आ गयी। वह प्रॉक्टोरिअल बोर्ड की मीटिंग में गयी थी। उसे सब कुछ मालूम होगा।" आओ

चलो, पूछें।" सभी छात्राओं ने वनिता को घेर लिया और जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखने लगीं।

"वनिता, क्या मामला है? बताओ न।" मैंने कहा।

"सभी बैठ जाओ तो बताऊँ।" सभी बैठ गए। वनिता बोली, "फणीन्द्र और रजिया एक दूसरे को प्रेम करते हैं। यह प्रेम का व्यौपार अभी शुरू नहीं हुआ। पांच वर्ष पहले जब वे हाईस्कूल में पढ़ते थे तब से चल रहा है। फणीन्द्र पर यह संघात भी पहला नहीं है। इससे पूर्व इसी प्रकार का एक संघात और हो चुका है। प्रेम की पागल भूख की शुरूआत जानती हो कैसे हुई? शैक्षिक प्रतिद्वन्द्विता ने प्रेमांकुरित कर दिया दोनों को। क्लास में कभी फणीन्द्र प्रथम आता तो रजिया द्वितीय और कभी रजिया प्रथम आती तो फणीन्द्र द्वितीय। धीरे-धीरे रजिया फणीन्द्र को बेहद चाहने लगी। वह अधिकतर उसके साथ रहती। दोनों एक-दूसरे के घर आने-जाने भी लगे। रजिया सर्वत्र चर्चा का विषय हो गयी। मुस्लिम समाज फणीन्द्र के प्रेम-व्यौपार को सह न सका। उसकी यह मान-प्रतिष्ठा का विषय हो गया। मुस्लिम धर्म के अनेक शिष्टमण्डल रजिया के पिता से मिले। उन पर अनेक प्रकार के दबाव डाले गए। रजिया के पिता प्रगतिवादी होते हुए भी समाज से टक्कर न ले सके। उनके विचारों में भी कट्टरता और संकीर्णता आ गयी। रजिया को सख्त हिदायतें दे दी गयीं फणीन्द्र से न मिलने की। लेकिन कठोर प्रतिबन्ध कहीं प्रेम को बांध सका है। एक दिन रजिया अपने पिता के साथ मार्केट शॉपिंग के लिए गयी। अचानक उसकी दृष्टि फणीन्द्र पर पड़ी जो मेडिकल स्टोर से दवाई खरीद रहा था। जैसे ही वह स्टोर से बाहर आया तो रजिया उसके सामने थी। दोनों ने एक-दूसरे को देखा और देखते रहे कुछ क्षण। रजिया का पागल प्रेम इस दूरी को सह न सका और वह उसके सन्निकट जाकर बोल उठी, "मुझे सूट के लिए कपड़ा दिला दीजिए अपनी पसन्द का।" फणीन्द्र विवश हो गया उसके साथ चलने को। रजिया के पिता तड़प उठे उसकी इस खुली बगावत को देखकर। उनका चेहरा लाल हो उठा। वे भीतर ही भीतर झुलस रहे थे। लेकिन चुप रहे, न जाने क्यों? थोड़ी देर बाद, एक मुस्लिम नौजवान वहाँ आकर खड़ा हो गया और झट चाकू निकालकर फणीन्द्र के पेट में भौंक दिया। फणीन्द्र गिर पड़ा और आक्रामक भाग खड़ा हुआ। रक्त की नदी बह चली और फणीन्द्र अचेत होने लगा। रजिया उसे कार में लेकर सिविल हॉस्पिटल आयी। डॉक्टर ने उसकी स्थिति को चिन्त्य बताया। रजिया निराश, पागल-सी डॉक्टर के चरणों पर गिर पड़ी। डॉक्टर ने आश्वस्त किया और धैर्य बंधाया। उसने ईश्वर से प्रार्थना की अपने सुहाग की और भगवान ने उसे आशीष दे दिया। फणीन्द्र दस दिन के बाद स्वस्थ हो गया किन्तु धर्म के घिनौने रूप और पिता की फटकार ने उसके स्नेह-सूत्र को और भी मज़बूत कर दिया। इसके बाद, रजिया और फणीन्द्र यूनिवर्सिटी साथ-साथ आते और जाते। रजिया के पिता उसकी इस सन्निकटता से परेशान रहने लगे। उन्होंने एक दिन कहा, "रजिया, मैं तुम्हारी शादी फणीन्द्र से कर सकता

हूँ यदि वह मुसलमान हो जाए।" रजिया ने दो टूक उत्तर दिया था, "मैं फणीन्द्र से धर्म-परिवर्तन के लिए नहीं कह सकती। प्रेम में कहीं सौदेबाजी होती है। और यदि वह कहे कि तुम हिन्दू हो जाओ तब आप क्या मुझे आज्ञा दे देंगे?" इससे वे निरुत्तर ही नहीं हो गए थे, उनका मानस भी आन्दोलित हो उठा था। अचानक दो दिन के बाद, हैदराबाद से एक तार आया और रजिया अपने परिवार सहित हैदराबाद चली गयी। स्टेशन पर जब फणीन्द्र ने उसे विदा दी तो दोनों की आँखें छलक आयी थीं। फणीन्द्र ने अवरुद्ध कंठ से कहा था, "रजिया, हैदाराबाद पहुंचकर तार देना।" और रजिया ने प्रत्युत्तर में कहा था, "मुझे भूल नहीं जाना, मेरे पत्रों का उत्तर देते रहना।" दो दिल उदास, खोए-खोए देखते रहे एक दूसरे को जब तक वे देख सके। हैदराबाद पहुंचकर रजिया एक कोठरी में बन्द कर दी गयी और उसी रात उसका निकाह बलात् एक खूबसूरत नौजवान से कर दिया गया। रजिया मन मसोस कर रह गयी। उसकी सारी आशाएं धूल धूसरित हो गयीं। किन्तु वह विचलित नहीं हुई अपने पथ से। और उसके मस्तिष्क में योजनाओं के जाल बिछने लगे। सौभाग्य से अगले दिन उसका पति हनीमून के लिए काश्मीर चल दिया। रजिया ने बहुत मना किया किन्तु सम्पूर्ण योजना पूर्व निर्धारित थी। उसे जाना पड़ा। ट्रेन उन सूनी लम्बी पटरियों पर भागने लगी। वह घंटों बात करती रही अपने पति से। बीच-बीच में हंसती और अचानक अपने विचारों में खो जाती और फिर संभल जाती। वह बर्थ पर लेट गयी और लेटे-लेटे बात करती रही और फिर खर्राटे भरने लगी जान बूझकर। उसका पति भी बहुत देर तक जागता रहा और फिर उसकी भी आँखें लग गयीं और खर्राटे भरने लगा। रजिया ने घड़ी की सुईं की ओर देखा तो एक बज रहा था। वह उठी, बाथरूम गयी लेकिन उसका पति जगा नहीं। इतने में गाड़ी आकर एक स्टेशन पर रुक गयी किन्तु उसका पति अभी खर्राटे भर रहा था। उसने अपना पर्स उठाया और एक टिकट निकालकर तकिए के नीचे रख दिया और फिर धीरे-से दरवाजा खोला, बन्द किया और स्टेशन पर उतर गयी। उसने मुड़कर देखा दरवाजा ज्यों का त्यों बन्द था। वह फर्स्ट क्लास के वेटिंग रूम में आ गयी। सामने देखा एक गाड़ी जाने के लिए तैयार खड़ी है। उसने कुली से पूछा, "यह गाड़ी कहाँ जाएगी?"

"जबलपुर।" वह स्टेशन से बाहर गयी और जबलपुर का टिकट लेकर फर्स्ट क्लास के कम्पार्टमेण्ट में बैठ गयी। उसकी गाड़ी चल दी और वह जिससे उतरी थी वह अभी खड़ी थी। उसकी निगाह फर्स्ट क्लास के डिब्बे पर लगी थी। वह उसी तरह बन्द था। जबलपुर आकर रजिया ने फणीन्द्र को तार दिया, "पहली ट्रेन से इलाहाबाद चले आओ। मैं आज इलाहाबाद पहुंच रही हूँ।" जबलपुर से कुछ साड़ियाँ, रेडिमेड ब्लाउज और कुछ आवश्यक वस्तुएं खरीदीं। और फिर, वहाँ से ग्यारह बजे ट्रेन से इलाहाबाद के लिए चल दी। इलाहाबाद में वह अपनी पुरानी मित्र यामिनी के यहाँ आ गयी। उसने सम्पूर्ण स्थिति से उसे अवगत करा दिया और कहा, "मैं

यहाँ आज ही सिविल मेरिज करना चाहती हूँ। क्या तुम मेरी मदद कर सकती हो?"

"कैसी मदद?"

"अपने पिताजी से सिविल मेरिज सम्बन्धी एक अर्जी और इसके सम्बन्ध में आवश्यक कार्यवाही के लिए मेरी ओर से प्रार्थना करो। यामिनी, मैं जीवनभर तुम्हारे एहसान से उऋण नहीं हूंगी।"

"इसमें एहसान की क्या बात है? यह तो मेरा कर्तव्य है रजिया। चलो पापा के पास, उनसे अभी बात करलें। ग्यारह बजे वे कोर्ट चले जाते हैं।"

यामिनी रजिया को लेकर अपने पापा के पास आयी और रजिया ने आद्योपान्त अपनी प्रेम कहानी आँसुओं का अर्घ दे-देकर सुनादी। वकील साहब भी अभिभूत हो उठे और विचारमग्न हो गए। रजिया ने कहा, "आज मैं सिविल मेरिज करना चाहती हूँ। आप मुझे आशीष दीजिए।"

"लेकिन तुम बिना फणीन्द्र के सिविल मेरिज नहीं कर सकतीं और फिर, फणीन्द्र भी तैयार होगा या नहीं।"

"वह बारह बजे की ट्रेन से आजाएगा। उसे तो यह जानकर बेहद प्रसन्नता होगी। दो वर्ष से उसके इस प्रस्ताव को मैं टालती रही हूँ।"

"क्यों?"

"मैं चाहती थी कि विवाह-बन्धन हमारी शैक्षिक प्रगति में बाधक न बने। उच्च जीवन की कल्पनाएं हमारी अमूर्त ही न रह जाएं। लेकिन अब किया क्या जाए? विवशता है, फिर, और कोई विकल्प भी तो नहीं है।"

"मैं इतना तो समझता हूँ कि तुम्हारा प्रेम फणीन्द्र के प्रति सच्चा है लेकिन फणीन्द्र का....।"

"फणीन्द्र का प्रेम सच्चा है। विगत पांच वर्षों में मैंने उसे अच्छी तरह परखा है। वह मेरे लिए सब कुछ कर सकता है। वह क्या है मैं कैसे बताऊं?"

"रजिया बेटी, भावना-विहीन होकर इस समस्या पर विचार करो। प्रेम का नशा इन्सान को मदान्ध कर देता है। इस नशे में ठीक ढंग से सोच-विचार नहीं सकते।" अच्छा, यदि फणीन्द्र इतना पागल है तुम्हारे लिए तो वह मुसलमान क्यों नहीं हो गया?"

"पापा, उसने मेरे प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। उसने कहा था, "धर्म इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि जीवन। जीवन धर्म का स्रष्टा रहा है न कि धर्म जीवन का। हाँ, धर्म जीवन को नैतिक अवश्य बनाता

है। जीवन अधिक मूल्यवान है अपेक्षाकृत धर्म के। जीवन ईश्वर देता है और धर्म इन्सान बनाता है। कौन उच्चतर है। मैं ऐसे धर्म को कोई महत्व नहीं देता जो जीवन को अमूल्यांकित करता हो। मैं इस धर्म के आडम्बरी चोगे को जब चाहो उतार सकता हूँ। यह सौदा तो रजिया बहुत सस्ता कर रही हो। सोच लो, तुम घाटे में रहोगी।" मैं लज्जित हो गयी थी उसके इस तर्क से। मैंने कहा, "फणीन्द्र, मैं तुम्हारा शोषण नहीं कर सकती। फिर, प्रेम की परिभाषा में धर्म, जाति और रूप-रंग कहाँ आता है?"

"यदि तुम्हारा प्रेम धर्म-विहीन है तो तुम हिन्दू क्यों नहीं हो जातीं?" मैं स्तम्भित हो गयी और अपलक निहारने लगी उसे और पढ़ने लगी उसके अन्तर के भावों को।

फणीन्द्र बोल उठा, "क्यों? खो गयीं।"

"हाँ, तुममें। लेकिन तुम बाजी हार गए फणीन्द्र।"

"कैसे?"

"मैं हिन्दू उस दिन बन चुकी थी जिस दिन तुम्हारे रूप ने मुझे मोहा था। मुस्लिम समाज के प्रति मेरी पहली बगावत थी और धर्म की दीवार मैं लांघ चुकी थी। यह शरीर तुम्हारा है फणीन्द्र चाहे धर्म की किसी भी चादर में लपेटो। जब मैं पैदा हुई थी तो नहीं जानती माँ-बाप ने किस चादर में लपेटा था किन्तु जब मैं मरूँ तो सभी धर्मों की चादर मुझ पर डाल देना ताकि सभी धर्म मेरे मृत शरीर के साथ भस्मीभूत हो जाएं और धर्म मानव जाति का विनाश न कर सके और प्रेम के मार्ग में यह कभी, फिर, अवरोधक न बने।"

फणीन्द्र की आँखें भर आयी थीं और उसने कहा था, "जो धर्म मानव जाति का विनाश करता है, जिसका आधार हिंसा, घृणा और परस्पर विद्वेष है उसे धर्म नहीं कहा जा सकता चाहे वह हिन्दू धर्म हो अथवा मुस्लिम या ईसाई। धर्म उच्चादर्शों का प्रतीक होता है। उसमें रचना होती है न कि विनाश; उसमें प्रेम होता है न कि घृणा। वह एक प्रजाति और प्रदेश से परिसीमित नहीं होता। उसकी आधारपीठिका होती है अहिंसा, सत्य और सहिष्णुता। ऐसा मानवीय धर्म ही धर्म कहा जा सकता है। मुस्लिम समाज को मेरा प्यार खलता है रजिया, क्योंकि मैं काफिर हूँ और हिन्दुओं को तुम स्वीकार नहीं हो क्योंकि तुम म्लेच्छ हो, पतित हो और धार्मिक दृष्टि से तुम गिरी हुई हो। इन धर्मों को दो दिलों का मिलन, प्यार और सामीप्य भाता नहीं, कितनी अ़जीब बात है इन्हें वैर पसन्द है और प्यार नहीं। लेकिन हमें तो प्यार चाहिए। कैसा प्यार? अनन्त और असीमित। इसीलिए हम इन दोनों धर्मों के इस संकीर्ण, तंग और भद्दे कलेवर को उतार कर एक मानवीय धर्म को अपनाएंगे। जानती हो वह कौनसा धर्म है? तथागत का धर्म जो कभी हिंसा, घृणा और वैर का प्यासा नहीं रहा, जो कभी एक प्रजाति और प्रदेश की सीमाओं में नहीं बंधा, जिसे कभी साम्राज्यवादी भूख सतायी नहीं और जिसने समस्त मानव जाति का हित

चिन्तन किया है। यही तो एक ऐसा धर्म है जो स्नेह सूत्र में आबद्ध करता है, जो जीवन को निखारता है और जो मानव का मूल्यांकन करता है।"

रजिया ने घड़ी की ओर देखते हुए कहा, "ओह! साढ़े ग्यारह बज गए। यामिनी, जल्दी तैयार हो जाओ स्टेशन चलना है फणीन्द्र को लेने के लिए। और पापा, आप सिविल मेरिज का आवेदन पत्र तैयार रखें। हम स्टेशन से सीधे कोर्ट आएंगे।"

यामिनी और रजिया जैसे ही स्टेशन पर पहुंची तो गाड़ी आ रही थी। सेकिण्ड क्लास के फुटबोर्ड पर खड़े फणीन्द्र को देखकर रजिया खिल उठी और यामिनी से बोली, "लो, फणीन्द्र आ गया।" और फिर सेकिन्ड क्लास के डिब्बे की ओर भागी। रजिया ने दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन किया और फणीन्द्र ने भी। रजिया ने यामिनी का फणीन्द्र से परिचय कराया और फिर दोनों ने एक दूसरे की ओर हाथ जोड़ दिए। स्टेशन से सीधे कोर्ट आए और मार्ग में फणीन्द्र ने रजिया से अनेक प्रश्न किए किन्तु रजिया ने एक ही उत्तर दिया, "कहानी लम्बी है फणीन्द्र। तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दूंगी घर चलकर। हाँ, आज मैं वह कार्य कर रही हूँ जिसके लिए तुम मुझे पिछले दो वर्षों से विवश कर रहे थे और मैं सदा टालती रही थी। तुम जानते हो हम कहाँ चल रहे हैं?"

"नहीं।"

"कोर्ट, सिविल मेरिज के लिए।" फणीन्द्र उसे एकटक देखने लगा।

"क्या देखते हो? ठीक कहती हूँ।"

"मज़ाक न करो रजिया। सिविल मेरिज और इलाहाबाद में और फिर, तुम्हारे पापा-मम्मी और जागरुक मुस्लिम समाज एक हिन्दू के साथ शादी-बिलकुल असम्भव है।"

"आज मैं असम्भव को सम्भव करने जा रही हूँ।"

"लेकिन मैं एक हिन्दू हूँ रजिया, सोच लो।"

"और मैं एक मुस्लिम हूँ।"

"हाँ, दोनों स्पष्ट दो राहें, दो समाज, दो ईमान, दो भिन्न-भिन्न देवी-देवता कट्टर दुश्मन एक-दूसरे के। क्यों देश में साम्प्रदायिकता की आग भड़काना चाहती हो?"

"दो राहें, दो समाज, दो ईमान और दो विभिन्न चिरकालीन शत्रु अवतारों का आज मिलन करा रही हूँ। दोनों प्रजातियों की समृद्धि इसी एकीकरण में है। राष्ट्र की सबलता इस तादात्म्य में है। साम्प्रदायिकता की आग इस एकत्व में नहीं अनेकत्व में है। यही राष्ट्र का जीवन और हम नागरिकों का पुनीत धर्म है। परस्पर संघर्ष के लिए, एक-दूसरे को पराभूत

कर स्वाामित्व स्थापित करने के लिए और झूठी प्रजातीय गौरव-गरिमा के लिए यदि कभी इन्सान ने धर्म की प्रतिष्ठा की थी जो सचमुच धर्म नहीं था, तो आज के इन्सान मिलन, स्वातंत्र्य और राष्ट्रीय गौरव के लिए धर्म की दिशा को बदल सकते हैं, उसे मानवीय बना सकते हैं। जिस माटी से यह शरीर बना, खिला और खेला, उस माटी का ही इस शरीर पर अधिकार है। उस माटी के प्रति निष्ठा और उस पर बसने वालों के प्रति स्नेह, यही सबसे बड़ा धर्म है। जब राष्ट्र की एकता इस धार्मिक विभिन्नता के कारण खतरे में हो तो जीवन की एकता कैसे सम्भव हो सकती है? जीवन का अस्तित्व राष्ट्र की एकता में है। राष्ट्रीयता का जीवन भी अन्तर्राष्ट्रीयता में सन्निहित है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" इस धरती का अनादिकाल से जय घोष रहा है। धर्म के संस्थापक कितने संकुचित मस्तिष्क के थे जिन्होंने धर्म की स्थापना एक प्रजाति, एक राष्ट्र और एक कबीले के लिए की। सम्पूर्ण मानव समाज उनकी दृष्टि में नहीं रहा। अन्य धर्मों को हीन बताकर जेहाद के द्वार सदा के लिए खोल दिए। बलात् भोग और बलात् धर्म परिवर्तन में, मैं कोई अन्तर नहीं मानती। सचमुच, यह उच्चकोटि की बौद्धिक शून्यता है। मैं इस जेहाद की दीवार को ढाकर अनन्त मिलन की राह आज बना रही हूँ। ऐसी राह जिस पर बिना किसी भेदभाव के सभी चल सकें, पनप और प्रगति कर सकें। भावी पीढ़ी के लोग जानेंगे हमने धर्म के विरुद्ध विद्रोह कर भावनात्मक एकता का निर्माण किया था और विश्व नागरिकता का एक स्वप्न देखा था।"

सिविल मेरिज हो जाने के बाद, घर आकर यामिनी तो रजिया के विवाह के उपलक्ष्य में शाम को एक भोज के आयोजन में व्यस्त हो गयी और रजिया ने फणीन्द्र को अपनी सम्पूर्ण दु:खद गाथा जो सुनायी तो वह उसे हक्का-बक्का -सा देखने लगा। उसके अन्तर के भाव उसके मुखमण्डल पर बनने और बिगड़ने लगे। कभी चेहरा आक्रोशित हो उठता तो कभी शान्त और कभी एकदम गम्भीर हो जाता। कहते-कहते रजिया की आँखें भर आयीं और बोली "फणीन्द्र, यदि मैं तुम्हें न पा सकती तो आत्महत्या कर लेती।"

"रजिया, कैसी बातें करती हो? तुम साहसी और बुद्धिजीवी हो। आत्महत्या बुजदिल किया करते हैं। साहसी अन्याय के प्रति लड़ते-लड़ते प्राण दे देते हैं किन्तु आत्महत्या नहीं करते।"

यामिनी ने कहा, "अरे! तुम रो रही हो। आज रोने का दिन नहीं है रजिया। अपनी मुस्कानों से इस घर को भर दो। जीवन की सबसे बड़ी तुम्हारी आज चाह पूरी हो गयी। आओ, सुहाग की निशानी से तुम्हारी मांग को भर दूँ। यह इंगुर दमकता रहे नित-नित नए-नए रूप में और तुम खोती रहो अपने को अपने पिया के प्यार में।"

उसी रात को फणीन्द्र और रजिया इलाहाबाद से चल दिए और आज सुबह ही तो यहाँ आए हैं। जब दोनों यूनिवर्सिटी आ रहे थे तो यह घटना घटी। सुना है फणीन्द्र का वारंट भी है।

अध्याय – 9

"मम्मी, मेरा कोई पत्र आया।"

"नहीं, बिटिया।"

वनिता यह सुनकर उद्विग्न हो उठी और बड़-बड़ाने लगी, चलते-चलते कह दिया था कि शिमला पहुंचकर पत्र अवश्य डाल देना। आज आठ दिन हो गए प्रतीक्षा करते हुए लेकिन......। और फिर तुरन्त तार के फार्म पर लिखने के बाद, आवाज़ लगायी, "सुनील।"

"हाँ दीदी।"

"यहाँ आओ।" तार का फार्म सुनील के हाथ में देते हुए वनिता ने कहा, "यह तार पोस्ट ऑफिस दे आओ।" सुनील चला गया पोस्ट ऑफिस और फिर वह विचारों में डूब गयी। विचारों में खोते-खोते उसकी आंखे भर आयीं और फिर वह बुरी तरह सिसक पड़ी। उसकी आंखें सूज गयीं सुबकते-सुबकते और चेहरा मलिन हो गया। मैंने बहुत समझाया उसे लेकिन उसकी आंखे भर आती हैं रह-रहकर और वैचारिक श्रृंखला टूटती नहीं है। अब आकाश में बिखरे बादलों को, उनके विविध रूपों को निहारने लगी। एकटक उन्हें ऐसे देख रही है जैसे उनसे कुछ कह रही हो। सचमुच मेघों का कारवाँ रुक गया। मैंने कहा, "अरे! कुछ संदेशा भेज रही हो इनके द्वारा अपने पिया को।" और देखा उसने हाथ जोड़ दिए उन आवारा बादलों को और उनका समूह आगे बढ़ने लगा। वह उन्हें देखती रही जब तक वे उसकी आंखों से ओझल नहीं हो गए। अब बार-बार वह हाथ में बंधी घड़ी को देखने लगी शायद प्रतीक्षा कर रही हो किसी की। मैंने कहा, "कहीं जाना है?"

"नहीं।" इतने में पोस्टमेन ने आवाज दी, "चिट्ठी ले जाओ।" वह भागी और उसका उदास मुखड़ा मुस्कानों के साथ खेलने लगा। मैं समझ गयी

प्रो. चटर्जी का पत्र है। मैंने कहा, "आ गयी पाती जिसके लिए तुम तड़प रही थीं।" वह मुस्करा उठी। मैंने उसके हाथ से पत्र छीन लिया वह तड़प उठी। मैंने कहा, "मैं सुना दूं।"

"नहीं।"

"लो अच्छा, तुम्हीं पढ़ो।"

वह पढ़ने लगी, " ओ निर्मोहिन, तुम क्या जानो प्रीत निभानी? तुमने मेरे प्रेम को समझा ही नहीं, इसकी गहनता को तुम समझ न सकीं। काश! तुम जान पातीं। तुम्हीं ने तो आग लगायी थी जो धीरे-धीरे सुलगती रही थी और तुम दहकाती रही थीं अपने प्यार की अनन्त मुस्कानों से। जब आग की लपटें ऊंची उठ रही थीं तो तुम कहाँ थीं, याद है कुछ? तुमने अपने प्यार की शराब से लबालब जाम मेरे सामने रख दिया था। मैं सोचता था तुम यह शराब मुझे क्यों पिलाना चाहती हो? मैं तो इसका आदी भी नहीं हूँ। कब तक तुम्हारी शराब को चखा, नहीं याद है कुछ? कितनी नाराज़ थीं तुम मेरी इस बेरुखी पर? तुम बेहद उदास रहने लगी थीं। तुम्हारा दिल भीतर ही भीतर सुबकता था और आंखे डब-डबा आती थीं। एक दिन तुमने अपनी आंखों की शराब जबरदस्ती मेरी आंखों में उड़ेल दी थी। मेरी आंखे तभी से तुम्हारे रूप में खो गयीं, अन्धी हो गयीं। ऐसी शराब पिलायी तुमने जिसका नशा उतरता नहीं है और बढ़ता ही जाता है। ऐसा उन्माद जीवन में कभी आया नहीं – क्यों, नहीं जानता? जब तुम उस दिन चलीं तो मालूम है मैंने क्या कहा था, "क्यों इतना पागल बनाया है?" तुम चुप रही थीं। यह मूक साधना तुम्हारी अनेक युगों की कितनी रहस्यात्मक है? तुम कभी कुछ कहती नहीं। क्या प्रेम की पागल भूख तुम्हें नहीं सताती? यदि सताती है तो कहती क्यों नहीं हो कुछ? क्या डरती हो कि कहीं तुम्हारी साधना भंग न हो जाए? लेकिन भूल है तुम्हारी यह। मीरा को नहीं जानतीं क्या? जितना वह बोली उतना ही उसने रस चखा, उसकी भूख बढ़ी। ऐसी भूख कि राजस्थान का कण-कण उसे बाबरी कहने लगा। उस बाबरी के गीत तुम भी तो गाती हो। क्यों गाती हो, बताओ न? तुम्हारे उन्माद को मैं जानता हूँ। वह विरही आग जो तुम्हारे दिल में दहकती रहती है उसे भी मैं जानता हूँ और तुम्हारी उस मान्यता को भी जानता हूँ जब तुमने कहा था, "प्रेम की भाषा मूक होती है।"

याद है कुछ, जब हम ऊंचे मटमैले टीले पर बैठे उस फैली झील के रूप को निहार रहे थे। बगुलों के कितने सुन्दर जोड़े उसमें जहाँ-तहाँ बिखरे थे, विविध रंगों के सुन्दर फूल उसमें झूम रहे थे और चंचल लहरें उसमें उठतीं, खेलतीं और किनारों को चूम-चूमकर पागल हो जाती थीं। मैं सोचता था कौन इन्हें पागल बनाता है और किनारों का बलात् चुम्बन करना कहाँ से सीखा इन्होंने? तुम बोल उठीं, "ये लहरें किनारों के लिए कितनी पागल हैं?"

"और तुम भी तो पागल हो। लेकिन ये लहरें किनारों को एक दिन तड़पता छोड़ जाएंगी। इनका क्या भरोसा? जहाँ जल-राशि होगी, बसन्ती

छायी होगी और उठे-तने और सुन्दर कटे कूल होंगे और आवारा पवन ने जहाँ इन्हें गुदगुदाया, ये वहीं बिखरकर झूम-झूम गीत गाने लगेंगी और ये चिर प्रतीक्षित, विरही किनारे विक्षिप्त बने हुए आंसुओं का अर्घ दे-देकर धधकते रह जाएंगे।"

इतने में, बगुलों नें अपने पंख फड़फड़ाए और नील गगन में एक सुन्दर रेखा बना दी। बगुलों की लम्बी पंक्ति मेरी आंखों से ओझल हो गयी और फिर मेरी दृष्टि तुम पर टिक गयी। मुस्कानों के साथ खेलता हुआ तुम्हारा चेहरा, सीप-सी फैली हुईं तुम्हारी आंखों में लगा हुआ काजल और माथे पर सुहाग-चिह्न सूचक हल्की, छोटी-सी बिंदिया, तुम्हारे रूप को ही नहीं निखार रही थी बल्कि तुम्हारे बनते हुए विचारों की एक झांकी दे रही थी। तुमने कहा, "क्या देख रहे हो?"

"तुम्हारे माथे पर बनी हुई इन रेखाओं को।"

"क्या लिखा है मेरे माथे में? अच्छा एक बात बताओगे यदि पूछूं तो।"

"हाँ पूछो।"

"नहीं, मैं नहीं पूछती। तुम्हीं बताओ।"

मैंने तुम्हारी ठोड़ी ऊपर उठाते हुए कहा, "कहो, क्या पूछती थीं, बताओ न।"

"तुम्हारी शादी कब होगी?"

"कभी नहीं।"

"और मेरी।"

"होगी।"

"किससे।"

"एक अनजाने से।"

"तुम्हें ज्योतिष नहीं आती। तुम बहकाते हो।"

"सच कहता हूँ, तुम्हारे माथे की रेखा यही कहती है।" और फिर मैं गम्भीर हो गया।

"मिटा दो मेरी इस अमंगल रेखा को और खींच दो एक ऐसी लकीर जो हम दोनों को....। तुम्हारे बिना क्या करुंगी इस निष्प्राण जीवन का? तुम नहीं जानते मैं कबसे तुम्हें पाने के लिए भगवान की पूजा कर रही हूँ? आज ठीक दस वर्ष हो गए। ये दस वर्ष कितने संघर्षमय रहे हैं, कैसे बताऊँ? जब मैंने पूजा आरम्भ की थी तो तथागत से एक ही भीख मांगी थी, "भगवान मेरा

पति अद्वितीय हो।" और जब तुम्हें देखा तो ऐसा लगा जैसे भगवान ने मेरी इच्छा पूरी कर दी। सचमुच, तुम्हारे रूप, चितवन और वाणी ने मुझे ठग लिया था। तभी से एक ही इच्छा रही कि तुम्हारी छाया बन कर तुम्हारे साथ रहूँ। आज जब इतना नजदीक आ गयी हूँ तो कहते हो मेरा विवाह किसी....। लेकिन तुम्हारा प्यार मुझसे कोई छीन नहीं सकता। समाज की नज़रों में जो शारीरिक विवाह है उसे मैं कोई महत्व नहीं देती। विवाह की सार्थकता तभी है जब परस्पर प्रेम हो। जीवन में यदि प्रेम नहीं है तो ऐसे वैवाहिक जीवन का क्या करूंगी? प्रेम तो तुमसे किया है और विवाह किसी और से, यह नहीं हो सकता। आर्यावर्त की नारी ऐसा नहीं करती।" ऐसा कहते-कहते तुम्हारी आंखें छलक आयीं और गला भर गया।

"यह ठीक कहता है तुम्हारा विवाह इसके साथ नहीं होगा।" सामने खड़े हुए एक साधु ने कहा।

"क्या कहते हो?" तुमने कहा।

"मैं ठीक कहता हूँ पिछले जन्म में इसे शाप मिला है यदि इसने शादी की तो विवाह के पन्द्रह दिन बाद जीवित नहीं रहेगा।"

"तुम्हारा ज्योतिष का ज्ञान थोथा है। क्या तुम मेरे माथे पर लगे हुए इस सुहाग-चिह्न को नहीं देखते जो वैवाहिक जीवन का प्रतीक है? सामाजिक दृष्टि से चाहे हम विवाह-सूत्र में न बंधे हो किन्तु विगत दो वर्षों से हम एक आत्मा और दो शरीर के रूप में रह रहे हैं। क्या हुआ तुम्हारी इस अनिष्टकारी भविष्यवाणी का?" लेकिन वह साधु अपनी बात कहकर विलुप्त हो गया था। मैंने कहा, "अरे! वह साधु कहाँ है जिससे तुम बात कर रही हो? यह सुनकर, तुम जोर से चीख पड़ीं और संज्ञाहीन हो गयीं।

चेतना आने पर मैंने कहा, "अरे! मैं तो मज़ाक कर रहा था। आखिर तुमसे मज़ाक न करूँ तो और किससे करूँ? और हाँ दूसरों के साथ मेरे मज़ाक को तुम सह भी तो नहीं पातीं। याद है कुछ, जब मैंने तुम्हारी दीदी से कहा था, "किस आटे की चक्की का पिसा खाती हो ज़रा इन्हें भी बता दो न उस चाकी को।" कितना मन ही मन बड़-बड़ाई थीं और फिर बरस पड़ी थीं मुझपर, "इन्हीं की चाकी पसन्द है न आपको, ले लो न उसे।" और फिर ठीक दस दिन तक नहीं बोलीं। मैं थक गया था तुमसे अनुनय-विनय करते-करते किन्तु तुम्हें तो गुस्से से प्यार हो गया था। मैं आज समझा तुम कितनी भावुक हो। साधारण-सी मज़ाक तुम्हें इतना व्यथित कर सकती है। उस साधु को तुम भविष्यवक्ता मान बैठीं। वह तो निरा पागल है। इसे अपनी रेखाएं तो जानीं नहीं जातीं। यह अपने वर्तमान को तो नहीं जानता, दूसरों के भूत और भविष्य को क्या जानेगा? मुझे कौन तुमसे अलग कर सकता है? याद है जब तुमने कहा था, "सुनिए ज़रा, मेरी मांग में इंगुर भर दो।" इंगुर भरते हुए मैंने क्या कहा था, "लो आज तुम दुलहिन बन गयीं। पिछले जन्म की तुम्हारी साध आज पूरी हो गयी।"

तुमने कहा, "पिछले जन्म की।"

"हाँ, तुमने भगवान से यही चाहा था कि अगले जन्म में भी मेरा पति यही हो।" और फिर तुम मुझे अपलक देखने लगीं और अनायास बोलीं, "ठीक कहते हो।"

याद है जब तुम मेरी जिन्दगी में आयीं तो एक ज़बरदस्त तूफान लेकर आयीं। झकझोर दिया तुमने मेरी सम्पूर्ण शरीर सम्पत्ति को। मेरा मानस ही नहीं बदला, मेरी मान्यताएं, मेरे व्यवहार और मेरे आचार सभी बदल गए। ऐसा कायाकल्प कभी हुआ न था। क्यों बदल गए और कैसे बदल गए नहीं जानता? एक नया जीवन दिया तुमने - कितना अनूठा? सचमुच आज तक समझ नहीं पाया। एक नयी दिशा और एक नयी राह दिखायी जो चलने में सख्त लेकिन पग अपने आप बढ़ते जाते हैं। कौन बढ़ाता है इन्हें यह तो तुम्हीं जानो। एक चाह जीवन की बन गयी। जानती हो कौन-सी? केवल एक तुम और यह संसार सब मिथ्या है, ऐसा लगने लगा। पागलपन का चरम रूप। सचमुच, मेरी दृष्टि में तुम ऐसी बसीं कि जहाँ कहीं भी यह जाए बस तुम ही तुम दिखाई दो और कुछ नहीं। क्यों पागल बनाया है इतना, बताओ न। समाज मेरे पागलपन पर हंसने लगा। मेरे अपनों को भी शिकायत हो गयी और कहने लगे, "तुम बदल गए हो।" लेकिन सचमुच ऐसी बात नहीं थी। मैं सोचता था इन्हें कितना बुद्धि-विभ्रम है? शायद इन्हें मेरा सुख भाता नहीं। लेकिन तूफान का वेग अचानक धीमा पड़ गया। ठीक तीन माह तक वायु के झोंके जो कभी मुझ में उल्लास भर देते थे पता नहीं कहाँ खो गए? आसमान के इन झिलमिलाते तारों से पूछ लो मैंने क्या-क्या कहा इनसे? और जब ये घुमक्कड़ बादल मेरे पथ से गुजरते तो मैं इन्हें अपनी अन्तर-पीड़ा दिखाता और संदेशा भेजता। लेकिन मेरी सभी प्रार्थनाएं ठुकरा दीं तुमने। मेरे उत्पीड़न को तुम समझ न सकीं। तुम प्यार की गलियों में खेलकर भी अनभिज्ञ बनी रहीं। मिलन के सभी द्वारं तुमने बन्द कर दिए। लेकिन अभी एक शेष है जानती हो कौन-सा? जब मेरा मृत शरीर तुम्हारे दरवाजे से गुजरेगा, तुम रोक न सकोगी अपने को और छज्जे पर खड़ी होकर अपना घुंघटा उघाड़कर देखोगी इसे जब, तो तुम्हारे रूप की एक झांकी इसे जीवन दे देगी। मुझे अतीत की वे सभी सुखद घटनाएं रह-रहकर याद आने लगीं जब मेरे रूप के पनघट पर तुम पानी भरने आती थीं। कोई भी तो ऐसा दिन नहीं हुआ जब तुमने रूप की चोरी नहीं की और अपनी गगरी को मेरे प्यार से नहीं भरा। अपने मदभरे नैनों की डोर से जब प्यार की गगरी को तुम भरतीं तो मेरा दिल झूम-झूम जाता और तुम्हारी उन सूनी राहों में तुम्हारे साथ खेलता, हंसता, गाता हुआ तुम्हारा साथ देता। तुमसे ऐसा हिल गया कि तुम्हारा साथ नहीं छोड़ता था और तुम्हारा वियोग इसे असह्य हो उठता। लेकिन तुम्हारे विरह में यह कहाँ-कहाँ भटका, कैसे मचला और इन विरही दिनों के साथ कितना सिसका, तुम क्या जानो? कभी आशा सुखद झोंके दे

जाती तो कभी नैराश्य इस अभागे पर अट्टहास करता और कहता, "कठिन डगर है। यहाँ इन्सान मिटे हैं और उभरे बहुत कम हैं।"

उस दिन कॉफी हाउस में अचानक तुमसे मुलाकात हो गयी। मेरा दिल तुमसे कुछ कहना चाहता था लेकिन तुमने दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन किया और चल दीं। मेरा आहत दिल तुम्हें देखकर जो उत्फुल्लित हो उठा था तुम्हारी इस बेरुखी पर सिसक पड़ा। भावी जीवन के सुखद सपने धूमिल हो गए। मेरी मंजिल दूर और बहुत दूर हो गयी। तुम्हारे नखरों और मानसिक परिताप को मेरा दिल समझ न सका। लेकिन एक पाती तुम्हारी जिसे आंसुओं से लिखा था तुमने, मेरी ये सभी पातियाँ तुम्हारी इस पाती के सम्मुख फीकी पड़ गयीं। मेरी पाती ने तुम्हें रुलाया नहीं था किन्तु यह एक पाती तुम्हारी मुझे आज भी सिसकाती है। इसे पढ़कर मेरा मानस ऐसा हिला कि मेरे आंसू बह चले और रुकते नहीं हैं। पहली बार ही बोलीं लेकिन ऐसी बोलीं कि मेरा प्यार द्विगुणित तो हुआ ही पर मेरा माथा नत हो गया श्रद्धा से तुम्हारे सम्मुख। प्यार में तुमने क्या-क्या सहा, मैं आज जाना? सचमुच, तुम बहुत तपीं प्यार की लपटों से और तपने की अमिट चाह लिए बैठी हो आज भी। तुम कितनी महान् हो? आज बैठा सोचता हूँ इन पर्वत श्रेणियों में। तुम्हारा प्यार सच्चा और निःस्वार्थ है, आज मैं जान गया। मेरे चारों ओर घोर अंधेरा है। अंधेरी इन रातों में, दूर-दूर फैली हुई इन पर्वत घाटियों में आवाज़ देता हूँ तुम्हें। लेकिन मेरी आवाज़ टकरा कर लौट आती है निराश और उपेक्षित। तुम्हीं बताओ क्या करूँ? सचमुच मेरे दिल ने तुम्हें बेहद चाहा है, तुम भी जानती हो इसे तो।

कभी मेरी वाणी ने तुम्हें मोहा था लेकिन आज वही तुम्हारी व्यथा का कारण बन गयी। मेरे भाग्य की विड़म्बना? जब मेरी आवाज़ इन घाटियों में गूंजती है तो ये मुझ पर हंसती हैं और कहती हैं, "जिसे तुम ढूंढते हो, वह कभी की जा चुकी।" लेकिन मेरा विश्वास डिगता नहीं है। कौन मुझे आश्वस्त करता है, "वह तुम्हारी है और केवल तुम्हारी।"

तुमने जब मुझे कर्तव्य का पाठ पढ़ाया और शंकाएं मेरे चारों ओर मंडराने लगीं तो मैंने सोचा कि प्यार की डगर साफ-सुधरी और सुगम बना दूँ। लेकिन दुर्दैव मेरा कि वह अनजाने में बीहड़, दुर्गम और जटिल हो गयी।

आज जब मैं चिन्तित, उदास और अनमना बैठा था, एक प्रौढ़ा बोली, "इन मुस्काते, ऊंचे पर्वतों के बीच भी तुम उद्विग्न, निराश और किसी की खोज में पागल भटकते हो। लोग पहाड़ों में आते हैं मुस्कान भरने, इनसे प्रेरणा लेने और अपने दुख-दर्द भुलाने। लेकिन तुम्हारा अन्तस्तल सुबकता है। क्या ये श्वेत चांदी-सी पर्वतमालाएं भी तुम्हें मोह नहीं पातीं?"

"मैं आज जा रहा हूँ।" मैंने कहा।

"क्यों?"

"मेरा मन यहाँ नहीं लगता।"

"संसार का सौन्दर्य यहाँ बिखरा है - देखो! इन बोलती शैल-मालाओं को, ऊंचे-घने विविध रूपधारी इन पेड़ों की सुन्दर पंक्तियों को, पहाड़ी सड़कों पर तैरती हुई कारों में भरी हुई इन रूप-राशियों को, पहाड़ी गोद में पली - थिरकती हुई इन सुन्दर बालाओं को, घूमते-फिरते हुए इन आवारा बादलों को, झूमते-गाते हुए इन अलमस्त झरनों को और तुम्हारे रूप पर मर मिटने वाली इन तितलियों को। क्या रूप का यह देश तुम्हें भाता नहीं। कौन है तुम्हारा वहाँ जिसके लिए इतने तड़पते हो?" मैं एकटक उसे देखने लगा और खोने लगा अपने को उसमें। जानती हो मैं किसे देख रहा था, तुम्हारे रूप को उसमें। फिर बोली, "आओ न मेरे पास।" मैं चलने लगा लेकिन मेरे पैर रुक गए अचानक उसके समीप जाकर। वह बोली, "रुक क्यों गए? आओ न। मैं भी तो तुम्हें प्यार करती हूँ। कैसे बताऊं कितना? तुम्हारे रूप ने मुझे पागल बना दिया है।" लेकिन मैं सुबक पड़ा तुम्हें अदृश्य होते देखकर।

उसने प्रश्न किया विस्मित होकर, "अरे! तुम रोते हो।" और सचमुच वह भी रो उठी। मेरा हाथ पकड़कर बैठाया सोफे पर और बोली, "क्या तुम्हारी शादी हो गयी है?" मैं चुप हो गया।

"बोलते क्यों नहीं हो?"

"हुई थी लेकिन ......।"

"लेकिन क्या?"

"वह रुठ गयी।"

"इतनी जल्दी।"

"हाँ।"

"नासमझ लड़की है क्या?"

"नहीं, असाधारण बुद्धिजीवी।"

"और रूप।"

"तुम्हारे देश में ऐसा कोई नहीं है।"

"क्या कहते हो?"

"सच कहता हूँ।"

"मेरा रूप कैसा है?"

"मुझे दिखाई नहीं देता।"

"मेरा रूप दिखाई नहीं देता।"

"नहीं।"

"क्या दिखाई देता है तुम्हें?"

"एक वही।"

"उसका रूपरंग कैसा है?"

"देखो! वह खड़ी हुई है सामने। देख लो।"

"उसकी प्रान्तीयता।"

"बंगाल।"

"तब तो कोई जादूगरनी है।"

"हाँ।" मैंने सिर हिलाते हुए उत्तर दिया।

"लेकिन नाराज क्यों हो गयी?"

"मुझे क्रोध बहुत आता है। पहले मेरे क्रोध को वह सहती थी, उसे प्यार करती थी लेकिन अब नहीं।"

"क्या तुम उसे पसन्द नहीं?"

"पसन्द तो बहुत करती है और रोती भी बहुत है, लेकिन अब उसे न जाने क्या हो गया है? दूर रहना चाहती है।" और फिर, मैं उसके पास से चला आया।

जानती हो यह प्रौढ़ा कौन है? डॉ. मेहता की बीबी। बारह बच्चों की माँ है। इतने बच्चे पैदा करके भी रूप ने अभी इसे छोड़ा नहीं है। अभी भी उसमें जवानी मुस्काती है और बीस वर्ष की तरुणी लगती है। अभी भी मुहब्बत की भूख इसे सताती है। ठीक मेरे सामने उसका बंगला है। फूलों और फलों के ये सुन्दर बगीचे उसी के हैं। सुख-सम्पदा उसके चरणों में लेटती है। पहले दिन उसने मुझे गौर से देखा और फिर देखने का उसका व्यौपार अनुदिन चलता। एक दिन उसने हाथ जोड़ दिए मेरी ओर लेकिन मैं चुप रहा। वह उदास होकर देखती रही। रोज देखते ही वह अभिवादन करती और अपनी मुस्कान से इन सुन्दर घाटियों को भर देती। एक दिन मेरे कमरे में आकर खड़ी हो गयी और बोली, "किस देश के हैं आप?"

मैं चुप रहा।

"क्या करते हैं आप?"

मैं चुप रहा।

मेरी ढेर-सी किताबों को देखकर बोली, "क्या आप प्रोफेसर हैं?"

मैं चुप रहा।

इतने में पोस्टमेन ने आवाज दी। वह बाहर गयी और एक पेकेट लाकर टेबिल पर रख दिया। पेकेट पर लिखे "उत्कल विश्वविद्यालय" को देखकर बोली, "ओह! तो यह बात है आप प्रोफेसर हैं।"

मैं चुप रहा।

"कब तक चुप रहोगे? एक दिन तो बोलोगे, मेरा जिया कहता है।"

उसने हाथ जोड़े और चली गयी। मैं विचारों में डूबा हुआ सोचने लगा, "तुमसे मुहब्बत की है तो आज तक रोता हूँ, मिटता हूँ, धीरे-धीरे यह जीवन-दीप बुझ रहा है। इतना तड़पाया और रुलाया तुमने कि मेरी जवानी बूढ़ी हो गयी। आज जब हंसने और खेलने के दिन आए तो तुमने साथ छोड़कर जाने की कसम खायी है। क्या छोड़ सकोगी? लेकिन सौगन्ध है मेरी तुम्हें जो छोड़ न दो। आखिर, मेरे पास तुम्हें मिलेगा भी क्या? सिवाय चुभते व्यंग्य जो तुम्हारे फूल से कोमल हृदय में टीस पैदा कर दें। दिया भी क्या है मैंने तुम्हें अब तक? चाहे कितनी भी दूर, क्षितिज के उस पार भी जाओ तो मेरी याद तुम्हें सताएगी जरूर। अब तुमने इसे पाल कर इतना बड़ा कर लिया है तो सोचो तुम्हीं, कैसे साथ छोड़ोगी इसका? और यदि कभी भुलाने की कोशिश भी की तो सखियाँ जो तुम्हारी मुहब्बत के राज़ को जानती हैं कैसे चुप रहेंगी? उनकी प्रतिदिन की छेड़छाड़ तुम्हारी सुसुप्त स्मृति को जगाकर फिर तुम्हें आकुल कर देगी। और फिर, विश्वविद्यालय का यह वातावरण जिसमें तुमने अपनी भरी जवानी की सुन्दर झांकियां देखी हैं जिन्हें तुम आज भी प्यार करती हो, और इसी के प्रांगण में बैठकर तुमने वीणा के तार छेड़े हैं, विरह और मिलन के गीत गाए हैं और संजोए हैं सुन्दर सपने अपनी सहेलियों के साथ बैठकर भावी जीवन के - क्या भूल सकोगी?

याद है जब तुमने कहा था, "गली-गलिहारे में मेरे प्यार की चर्चा होने लगी है। मुझे डर लगता है बदनामी से। कहीं मेरे ड़ैडी को मालूम हो गया तो मुझे गोली मार देंगे। मुझे भूल जाओ, भूल जाओ उन पिछली प्यार की बातों को। मुझे प्यार करना छोड़ दो, तुम्हें मेरी कसम है। मेरी अन्तिम मुलाकात है आज यह।" इतना कहा और चली गयीं।

मैं खो गया विचारों में और तुम्हारे प्यार की प्रत्येक घटना मेरे सामने तैरने लगी। मुझे याद है जब तुमने मुझे अपने डैडी के पास ले जाकर कहा था, "डैडी, मुझसे अकारण ही ये नाराज़ हो रहे हैं। देखिए न, मेरी क्या गलती है?" बीच में टोकते हुए मैंने कहा था, "क्या तुम चाहती हो कि डैडी को मैं तुम्हारी सारी बातें बता दूं? तुमने सिर हिलाकर स्वीकृति दी थी। तुम्हारे डैडी उस दिन जान गए थे कि तुम मुझे प्यार करती हो और याद है उन्होंने क्या कहा था, "क्षमा कर दो इसे। अब आगे ऐसी गलती नहीं करेगी। इन्सान से ही गलती होती है।" और मैं फिर प्यार भरे चित्र खींचने लगा। ये

चित्र बनते रहे कब तक जानती हो न? लेकिन आज तो तुमने इन चित्रों को बिगाड़ने की सोची है, अपने ही हाथों अपने प्यार को मिटाने की कसम खायी है - क्यों? यह तुम्हीं जानो।

इतने में फोन की घंटी बज उठी। फोन उठाकर मैंने कहा, "हलो।"

"खाना तैयार है। डॉ. मेहता आपका इन्तजार कर रहे हैं। आइए न।" चारु बोली।

"लेकिन।"

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। आपको मेरी कसम है जो आएं नहीं।"

और सामने खड़े हुए नौकर ने कहा, "साहब, कार खड़ी है।"

"अच्छा, चलो मैं आता हूँ।"

और मुझे वे दिन याद आने लगे जब तुमने भी ऐसी ही जिद और ज़बरदस्ती की थी अपने यहाँ ले जाने की। लेकिन आज तो मेरा प्यार खड़ा हुआ रोता है इन पर्वतों के बीच तुम्हारे विरह में।

कुछ ही दिनों में चारु मुझसे इतनी घुल-मिल गयी जैसे हम दोनों जन्म-जन्म के साथी हों। मेरी ज़रा-ज़रा-सी बात का ध्यान रखती। मेरा जी बहलाने की पूरी कोशिश करती। मेरी हर एक ज़िद को पूरा करती। सुदूर तक फैले हुए पहाड़ी गांवों में वह मुझे घुमाती और बारह बजे रात तक उसके बंगले पर पर्वतीय बालाओं के संगीत और नृत्य के कार्य-क्रम चलते। मैं प्रतिदिन कहता, "आज मैं जा रहा हूँ।" वह मेरा हाथ पकड़कर उत्तर देती, "आज नहीं कल।" और सचमुच कल कभी नहीं आता। एक दिन मैंने कहा, "आखिर, इस तरह कब तक रखोगी मुझे अपने पास?"

"जीवनभर।"

"स्त्रियों का अब मुझे विश्वास नहीं रहा।"

"ये पहाड़ हैं मैदान नहीं। पहाड़ी बाला के दिल को तुम क्या जानो? उसका दिल इन दूध-सी चट्टानों की भांति विशुद्ध, पुनीत और ठोस होता है। वह जो कहती है वही करती है। एक बार मेरी ओर ज़रा देख तो लो।"

और वह मुझे अपलक निहारने लगी। मेरी आंखे भर आयीं तुम्हें याद कर। मेरा दिल कांपता है पता नहीं क्यों? मेरी यह पाती पहुंच भी पाएगी तुम तक या नहीं। ऐसा लगता है कुछ अशुभ होने वाला है। तुम्हें देखने को मेरा मन तरसता है लेकिन तुम तो नाराज़ हो।

अध्याय–10

पत्र-समाप्ति के बाद, मैंने वनिता से कहा, "प्रोफेसर चटर्जी का पत्र कितना व्यथात्मक है जैसे उनके मानस को आघातित किया हो तुमने। क्यों नाराज़ हो उनसे, बताओ न?"

मेरे इस प्रश्न से उसकी आंखें भर आयीं और ऐसा लगा जैसे वह अपने आहत मन को दिखाना भी चाहती है लेकिन दिखा नहीं पाती। कोई विवशता है जो उसे कुछ कहने से बाध्य करती है।

वह विचारों में खोने लगी। मैंने कहा, "मुझे नहीं बताओगी। क्यों छिपाती हो मुझसे? क्या तुम मुझे अपना नहीं समझतीं?"

"अनु! कैसी बात करती हो? कौन-सी बात छिपी है तुमसे? सभी तो जानती हो। क्या मेरे आंसू तुम्हें कुछ नहीं बताते? उनके प्रति मेरी श्रद्धा को तुम जानती हो और उनका नेह भी मेरे प्रति तुमसे छिपा नहीं है।"

"प्रोफेसर साहब से तुम नाराज़ क्यों हो?"

मैं और नाराज़। नितान्त असम्भव। उन्हें भ्रम है और कुछ नहीं। मिलने पर यह भ्रान्ति नहीं रहेगी। मेरा पागल मन उन्हें कितना चाहता है अनु, मैं कैसे बताऊँ? मेरे लिए उनका वियोग अब असह्य है। कल मम्मी कहती थीं, "तुम्हारे डैडी ने पटना में एक लड़का देखा है। लड़का सुन्दर है और एल एल.एम. में पढ़ता है। पिता फोरेस्ट विभाग में कोई उच्चाधिकारी हैं।"

मैंने साफ-साफ कह दिया, "मैं विवाह नहीं करुंगी।"

मम्मी मेरा मुंह देखने लगीं।

"क्या तुम प्रोफेसर साहब से शादी करना चाहती हो?"

"मैं क्या जानूं?"

इतने में सुनील तार का लिफाफा लेकर आया। लिफाफा खोलकर तार पढ़ा, "मैं कल पहुंच रहा हूँ।" वनिता के चेहरे पर मुस्कान दौड़ गयी।

मैंने कहा, "अब तो तेरे दिल की प्यास बुझ जाएगी।"

"छि! कैसी बात करती हो?"

अगले दिन 'पत्रिका' पेपर के प्रथम पृष्ठ पर यह समाचार - "शिमला पेसेन्जर दुर्घटना। पचास मरे, हताहतों की संख्या सौ", पढ़कर मेरा दिल धक से रह गया।

मैंने फोन उठाया और वनिता से कहा, "तुमने आज का पेपर देखा।"

"नहीं।"

"पत्रिका के फर्स्ट पेज पर शिमला पेसेन्जर दुर्घटना का समाचार प्रकाशित हुआ है। भगवान करे, प्रोफेसर साहब ने इससे यात्रा न की हो।"

और अगले दिन जो मृत व्यक्तियों के नाम पढ़े तो कुछ क्षणों के लिए मैं संज्ञाहीन हो गयी। बार-बार जो नाम - अनीश्वर चटर्जी पढ़ा तो मुझे विश्वास होने लगा। मुझमें साहस नहीं रहा कि मैं वनिता के पास जाऊँ। मेरा दिल भर-भर आता। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरा अपना कोई प्रियजन खो गया हो? मैं जानती थी कि वनिता की क्या दशा होगी? मुझे रोता हुआ देखकर मेरी माँ और छोटे भाई-बहिन सभी सिसकने लगे। मुझसे रहा नहीं गया और साहस बटोरकर अगले दिन मैं वनिता को देखने गयी। एक दिन में उसकी दशा ऐसी हो गयी जैसे कोई छः महीने की टी.बी. की रोगी हो। बाल बिखरे, आंखे बेहद सूजी, चेहरा एकदम पीला और मुरझाया हुआ, न जाने कहाँ से घड़ों भरी गम्भीरता उसके चेहरे पर आकर बिखर गयी, चूड़ी-विहीन हाथ और सफेद साड़ी में बंधी उसकी काया ऐसे लग रही थी जैसे उसका वैधव्य अट्टहास कर रहा हो उसके दुर्दैव पर। मुझे देखकर चिपट गयी और मिलकर हम दोनों बुरी तरह रोए। कब तक रोते रहे नहीं मालूम।

मैंने कहा, "वनिता, मेरा दिल भी उन्हें प्यार करता था। लेकिन जब मैंने देखा कि तुम प्रोफेसर साहब को प्यार करती हो तो मैंने राह छोड़ दी। लेकिन आज तो उन्होंने ही हमारी राहें सूनी कर दीं। मैं जानती हूँ तेरी असीम वेदना को। तेरा सब कुछ खो गया, लुट गया, जीवन-दीप आज बुझ गया। कौन जानता था कि जिस चिराग को इतने प्यार से जला रहे हैं वह एक दिन अनायास बुझ जाएगा? लेकिन ईश्वर की माया को कौन जानता है? इन्सान की यही तो विवशता है।"

"लेकिन मेरा दिल कहता है वे जीवित हैं।"

"भगवान करे, ऐसा ही हो। तार के अनुसार तो कल उन्हें आ जाना चाहिए था।"

मेरा ऐसा कहते ही फिर उसकी आंखें डब-डबा आयीं। मैंने उसकी आंखें पोंछते हुए कहा, "रो नहीं, तू विश्वास रख कि वे जीवित हैं।"

"मैंने जबावी तार दिया है, उसकी प्रतीक्षा कर रही हूँ।"

सुनील के हाथ में तार का लिफाफा देखकर उसकी आंखों में आशा की झलक दिखाई दी। तार पढ़ने पर वह सिसक पड़ी बुरी तरह। तार में लिखा था, "दिनांक १२ को अनीश्वर चटर्जी ने शिमला छोड़ दिया। यात्रा दुर्घटनाग्रस्त शिमला पेसेन्जर से की। पेपर में उनका नाम मृत व्यक्तियों में है।" तार पढ़कर, मैं भी सुबकने लगी।

इतने में निरुपा आ गयी और बोली, "वनिता, बधाई है तुम्हें प्रथम श्रेणी के लिए। अरे! तुम रो रही हो। यह क्या हालत कर ली अपनी? अनु, तुम भी रो रही हो। क्या बात है बताओ न?"

ट्रेन दुर्घटना में प्रोफेसर चटर्जी की मृत्यु का समाचार मैंने उसे बताया। उसकी आंखों में नीर भर आया और बोली, "मुझे विश्वास नहीं था। दादा ने भी परसों मुझसे ऐसा ही कहा था। अनु, तुम तो जानती हो, मैं प्रोफेसर साहब का कितना मज़ाक बनाया करती थी लेकिन वे देवता थे। मेरी आस्था उनमें थी और उन्होंने मुझे सदा अच्छी शिक्षा दी। उनमें उच्चकोटि की सामाजिकता थी। चरित्र उनका दूध-सा श्वेत और विशुद्ध। चारित्रिक उच्चता ने उनके व्यक्तित्व में चार चांद लगा दिए थे। प्रायः सभी लड़कियों को उनके आकर्षक व्यक्तित्व ने मोहा था लेकिन कोई कह नहीं सकता कि वे किसी के प्रेम-जाल में फंसे हों। रूप कन्याओं के बीच में रहकर भी उनका युवा हृदय कभी पिघला नहीं। उन्होंने अपने चरित्र को आंच नहीं आने दी। यही उनकी चारित्रिक महानता थी। वनिता को लेकर हम लोगों में कुछ चर्चा चली थी और मुझे भी कुछ सन्देह होने लगा था क्योंकि उन्होंने प्रकाश्य रूप से वनिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की और वनिता की सन्निकटता ने इस भावना को और भी बलवती बना दिया था। लेकिन वनिता को भी जब वे क्लास में फटकारने लगे तो मेरी भ्रान्ति दूर हो गयी थी। इन जैसा अर्थशास्त्र का विद्वान दूसरे विश्वविद्यालयों में नहीं मिलेगा।

"वनिता, हम सभी को तुम्हारी तरह ही दुःख है। जैसे ही यह दुःखद समाचार उनके शिष्यों को मिलेगा उनके दिल रो उठेंगे। कौन ऐसा पाषाण हृदय होगा जो इससे व्यथित नहीं होगा।? स्वभाव के वे कठोर थे लेकिन हृदय के उदार। उनके विरोधी भी उनका सम्मान करते थे। उनके विचार हमारा मार्गदर्शन करते रहेंगे और उनका अनुसरण ही उनके प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी।

निरूपा और मैं चले आए उद्विग्न और व्यथित। वनिता के भावी जीवन के अंधियारे को देखकर मैं कांप उठती। मैं जानती थी वह जिद्दी है और उसे उसके पथ से कोई विचलित नहीं कर सकेगा। मौत भी आकर यदि प्रोफेसर साहब के विस्मरण की कहेगी तो वह झुकेगी नहीं। वह अपने आदर्श के लिए मिट सकती है किन्तु उससे च्युत नहीं होगी। उसने कभी झुकना सीखा ही नहीं। किसी के साथ उसका नेह हो सकेगा यह तो कल्पनातीत है। उसके जीवन का आराध्य केवल एक है और वही रहेगा।

उसकी चिन्त्य स्थिति उत्तरोत्तर बिगड़ती गयी। उसके पिता उसे नैनीताल ले गए। वहाँ भी उसकी दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इसी बीच मेरा विवाह हो गया और हम एक दूसरे से दूर और बहुत दूर हो गए। पत्रों में दिनोंदिन उसकी ह्रासान्वित अवस्था मुझे रूलाती। उसके पिता का भी स्थानान्तरण कलकत्ता हो गया! कन्वोकेशन वह अटेण्ड करने आ रही थी और मुझसे भी अटेण्ड करने का उसने विशेष अनुरोध किया। मैं उसे देखकर स्तम्भित रह गयी। केवल हड्डियों का ढांचा शेष था। कभी मुस्कान उसके चेहरे पर थिरकती थी लेकिन आज वह उससे कोसों दूर थी।

यूनीवर्सिटी में उसने अर्थशास्त्र में टॉप किया और उपकुलपति ने उसे अर्थशास्त्र विभाग में लेक्चरर का पद ऑफर किया। वह अनिच्छुक थी लेकिन मेरे आग्रह पर उसने उसे स्वीकार कर लिया। इसके बाद, मैं उसे अपने साथ पूना ले आयी। हम एक सप्ताह ही रहे होंगे कि मेरे पति का तबादला अमृतसर को हो गया। वह कलकत्ता लौटना चाहती थी लेकिन मैंने उसे जाने नहीं दिया। मैंने उसे इस बीच कुछ स्वस्थ होते देखा। मेरी प्रफुल्लता का पारावार न था।

अमृतसर मेरे लिए नया नहीं था। मेरे पिता यहाँ रह चुके थे। मेरा बचपन पंजाब में खेला था। भांगड़ नृत्य और हीर के गीत मेरे देखे हुए और सुने हुए थे। यहाँ की मस्ती मुझमें झांकती थी। यहाँ की बोली का अक्खड़पन मुझमें बोलता था। डायर की क्रूरता के काले धब्बे मैंने जलियांवाले बाग में देखे थे। शेरे पंजाब पर पड़ी लाठियों की स्मृति मेरे मस्तिष्क में अभी ताज़ा थी और क्रान्ति का बिगुल बजाने वाले अमर शहीद सरदार भगतसिंह की फांसी यहाँ के तरूण वर्ग को अनुप्राणित करती थी, यह मैं जानती थी।

एक दिन मैं और वनिता शॉपिंग के लिए मार्केट गए। मैं कार ड्राइव कर रही थी। अचानक वनिता ने कहा, "अनु, कार रोको। सामने जो वह पागल खड़ा है, क्या वे प्रो. चटर्जी नहीं हैं?"

"हाँ, समानता तो बहुत है।"

कार से उतरकर वनिता उस पागल के पास गयी और उसे हाथ जोड़कर अभिवादन किया। पागल ने भी हाथ जोड़ दिए। दोनों एक दूसरे को निर्निमेष देखने लगे।

"आपका क्या नाम है?" वनिता ने प्रश्न किया।

वह चुप रहा।

"आप कहाँ तक पढे हैं?"

वह चुप रहा

"अमृतसर में आप कब से हैं?"

वह चुप रहा।

"कुछ खाइएगा।"

उसने हाथ फैला दिया। मैंने केले लाकर दिए, वह खाता रहा और देखता रहा वनिता को। वह कुछ सोचता-सा था। अब जाने लगा। दूर जाकर फिर उसने मुड़कर देखा। थोड़ी दूर ही गया होगा कि वह फिर वापस आया और वनिता को देखने लगा। भीड़ एकत्रित होने लगी, यह सब देखकर। उसने हाथ जोड़े और चला गया।

भीड़ को लक्ष्य करके वनिता ने कहा, "यह पागल कबसे इस शहर में है?"

"करीब एक वर्ष से।" एक व्यक्ति ने उत्तर दिया।

"बोलता नहीं है क्या?"

"नहीं।"

मैंने कहा, "आओ वनिता, चलें।"

"अनु, यह पागल प्रो. चटर्जी हैं। प्रोफेसर साहब के चेहरे पर एक तिल था। उनकी ठोड़ी के नीचे चोट का हल्का निशान था। उनकी बांह पर ए.चटर्जी लिखा था। ये सभी चिह्न उसमें मिलते हैं और नाम उसकी बांह पर खुदा है। इसके खड़े होने, बोलने और चलने का ढंग बिलकुल प्रोफेसर चटर्जी जैसा है।"

"तुम ठीक कहती हो, वनिता। इस पागल और प्रो. चटर्जी में इतना साम्य है कि सन्देह होना स्वाभाविक है। मुझे तो पूरा विश्वास है कि ये प्रो. चटर्जी हैं।"

वनिता बोली, "शॉपिंग कल करेंगे। इन्हें अब अपने साथ ले चलना है।"

कार आगे बढ़ाकर देखा कि पागल चौराहे पर ऐसे खड़ा है जैसे हमारी प्रतीक्षा कर रहा हो। और सचमुच वह हमारी कार के सामने आकर

खड़ा हो गया। हमने कार रोकी। वनिता ने उसकी बांह पकड़कर कार में बैठा दिया। मार्ग में उसने किसी प्रकार का अभद्र प्रदर्शन नहीं किया।

बंगले पर आकर, लॉन में उसे एक कुर्सी पर बैठाकर वनिता बोली, "आप तो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैं। आपका नाम अनीश्वर चटर्जी है। आपकी बांह पर भी लिखा है, देखिए न। जानते हो मैं कौन हूँ? वनिता, आपकी छात्रा। और यह अनु है, मेरा हाथ पकड़ कर कहा। हम दोनों आपके पास आया करते थे। आपने मुझे बहुत से पत्र लिखे थे। मेरे यहाँ आप बंगाली टोले में आते थे। हम और आप नदी, झील और मटमैले टीलों पर घूमा करते थे। आप तो ज्योतिष भी जानते हैं। आपने मेरा और अनु का हाथ भी देखा था। देखिए न मेरा हाथ।"

पागल हाथ देखने लगा।

वनिता ने मुझसे कहा, "अनु, मेरी अटैची में एक ग्रुप फोटो है, उसे ले आओ।"

पागल ग्रुप फोटो देखकर उल्लासित हो उठा, और अपने फोटो पर उसने अंगुली रखी। फिर, वनिता के फोटो पर अंगुली रखकर, वनिता की ओर संकेत किया और अनु को भी चीन्ह लिया। अब सन्देह का आधार नहीं रहा और पूर्ण विश्वास हो गया कि ये प्रो. चटर्जी हैं। थोड़ी देर बाद, प्रोफेसर साहब ने अपने माथे की ओर इंगित किया जैसे अपना अतीत भूल गए हों और स्मरण शक्ति नष्ट हो गयी हो।

अगले दिन उन्हें ले जाकर मेडिकल चेक-अप कराया। डॉक्टर ने कहा, "यह अपनी स्मरण-शक्ति खो बैठा है। इसे अतीत की घटनाओं का स्मरण कराया जाए। उन स्थलों पर ले जाया जाए जहाँ यह रहा हो। इसकी पत्नी और बच्चे इसके पास रहें तो अच्छा है।"

मेन्टल हॉस्पिटल के डॉक्टर ने घोषित किया, "यह पागल नहीं है। विक्षिप्तावस्था का इसमें कोई लक्षण नहीं है। सिर में चोट लगने के कारण यह अपनी स्मरण-शक्ति खो बैठा है। जिसे यह सर्वाधिक प्यार करता हो उसे इसके पास रहना चाहिए। स्मरण-शक्ति लौट सकती है। ये टेबलेट और इंजेक्शन देते रहिए।"

पन्द्रह दिन में प्रो. चटर्जी में आशातीत परिवर्तन दिखाई देने लगे। अब वे वनिता को वनिता नाम से सम्बोधित करते। उसके पास बैठे रहते। उसे अपनी आंखों से ओझल न होने देते। उसकी अनुपस्थिति उन्हें व्यग्र कर देती। उसका कहना मानते। वनिता उन्हें कार में ले जाती, घंटों घुमाती और वे प्रसन्न रहते। वनिता के अब वे बिलकुल वशीभूत थे।

एक मास के बाद, वनिता कलकत्ता चली गयी। उसने लिखा कि पटना से प्रो. नीलिमा बनर्जी भी हमारे साथ कलकत्ता आयी थीं। जब तक वे

कलकत्ता रहीं वे बहुधा आती रहतीं। पटना स्टेशन पर जैसे ही वह फर्स्ट क्लास के कम्पार्टमेन्ट में घुसीं और प्रोफेसर साहब को देखा तो वह अवाक् और स्तब्ध रह गयीं। मैंने सम्पूर्ण घटना जो उनके अभाग्य ने उनके साथ खेली थी, बतायी, तो उनकी आंखें सजल हो गयीं। यहाँ आकर मैंने प्रोफेसर साहब को डॉ. सेन को दिखाया। उनके उपचार से प्रोफेसर साहब की स्मरण-शक्ति जाग गयी। अब वे नॉर्मल हैं।

अनु, यदि तुम मुझे अपने साथ पूना नहीं ले जातीं तो मेरी मांग का सिंदूर जो पुछ गया था, फिर, मेरी मांग में न दमकता। कैसे उऋण हूंगी तुम्हारे इस एहसान से।

दो मास के बाद, उसका पत्र आया जिसमें लिखा था, "अचानक १५ अक्तूबर को प्रो. चटर्जी कहीं चले गए। दो दिन तक मैं कार लेकर कलकत्ता के बाज़ारों, गलियों और पार्कों में खोजती रही। तीसरे दिन मैं रेलवे स्टेशन पर पूछताछ के लिए गयी। रेलवे के अधिकारियों ने मुझे बताया कि परसों एक आदमी जो पागल जैसा लगता था ट्रेन के नीचे आकर कट गया। वह रेल की पटरियों के बीच खड़ा हो गया और आती ट्रेन को रोकने लगा। ड्राइवर ने शायद देखा नहीं। उसके शरीर के चिथड़े-चिथड़े हो गए। उसकी बाँह पर ए. चटर्जी लिखा था। वह सफेद धोती और कुर्ता पहने था।"

यह पढ़कर, मेरा माथा घूम गया, मेरी सिसकियाँ बंध गयीं और मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। कैसी खिलवाड़ की उसके निष्ठुर भाग्य ने उसके साथ, मैं यह सोचने लगी।

अध्याय - 11

बौद्ध विहार में अपने कक्ष में बैठी हुई वनिता ध्यानावस्थित थी। अचानक किसी ने कुण्डी खटखटाई, उसने द्वार खोले और द्वार पर खड़े हुए उस बौद्ध भिक्षु को वह टकटकी लगाकर एक पल देखने लगी।

"आप।" वह बोल उठी।

"हाँ।" भिक्षु ने उत्तर दिया।

"जीवित हैं।"

"हाँ।"

"मुझे विश्वास नहीं हो रहा।" और वह आंख मलने लगी।

"भिक्षा दीजिए।" भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाते हुए भिक्षु ने कहा।

वह अपलक निहारती हुई बोली, "अन्दर आइए।"

अन्दर आकर उसने कहा, "यह फोटो आपका है।"

"हाँ।"

"आपका नाम।"

"अनीश्वर चटर्जी।"

वनिता विचारमग्न हो गयी।

"अनु कहाँ है?" भिक्षु ने कहा।

इस प्रश्न से वह चौंक पड़ी और बोली, "बम्बई में।" और फूट-फूटकर बिलखने लगी।

"इतने दिनों के बाद, आज आए। अब तक कहाँ थे? क्या अपराध किया था मैने?" और फिर उसकी सिसकियाँ बंध गयीं।

"तुम्हें मैंने वचन दिया था जीवन में एक बार आतिथ्य स्वीकार करने का। आज आ गया हूँ। लाओ भिक्षा दो।" पात्र आगे बढ़ाते हुए भिक्षु ने कहा।

"अब मैं जाने न दूंगी।"

"मैं एक भिक्षु हूँ। संघ में प्रेम-वार्ता वर्जित है।"

"इस तरुणावस्था में भिक्षुत्व अपनाने का कारण।"

"क्या करोगी जानकर? घिनौना जीवन रहा है मेरा। आज तक जो श्रद्धा बनी रही है वह घृणा में परिणत हो जाएगी।"

"आपका जीवन घृणास्पद, मुझे कुछ समझ नहीं आता। मैं जानती हूँ आपके शिष्य आपका कितना आदर करते थे। आज भी आप उनके अनुप्रेरक हैं। जिस शरीर को मैंने प्यार किया है उससे घृणा करूंगी। कौन-सा पाप है जिसे आप छिपाते हैं? बताओ न।"

सुनो, "मेरे पिता एक साधारण किसान थे। पांच बीघे जमीन थी और यह भी जहाँ-तहाँ बिखरी। सिंचाई का कोई साधन नहीं। आसमान एकमात्र उसका सहारा। जब अनुकूल पड़ता तो मेरे पिता मुस्करा उठते और प्रतिकूलता उन्हें रूलाती। घोर आर्थिक विपन्नता घर को घेरे थी। ज़मीदार का सूद बढता जाता था। इस मामूली ज़मीन पर भी उसकी गृद्ध दृष्टि थी और आए दिन धमकी मिलती। ठाकुरों के उस गाँव में ब्राह्मणों का केवल एक घर था और परिवार में हम पांच प्राणी थे - मैं और मेरी छोटी बहिन नीना, माँ, दादा और बाबा। दादा खेत पर काम करते और माँ घर के काम से छुट्टी पाकर उनका हाथ बटातीं। बाबा अन्धे थे, घर पड़े रहते और राम-नाम-माला लिए अपनी मौत के दिन गिनते। मैं स्कूल जाता और नीना नदिया किनारे मछलियों को पकड़ने के लिए जाल फैलाती। जब मेरी स्कूल की छुट्टी होती तो मैं भी उसका साथ देता। बड़ा मज़ा आता मछलियों को पकड़ने में। सुबह चने चबाने के लिए मिलते और खाना दो बजे। दो बजे खाना माँ इसलिए बनातीं जिससे कि रात को भूख न लगे। बरसात आती तो हमारे दिल खिल उठते क्योंकि नीना सारे दिन ताल-तलैयों पर बैठी हुई मछलियाँ पकड़ती। ढेर-सी मछलियाँ जब माँ को लाकर देती, तो माँ का हृदय गद्गद् हो जाता और वे नीना पर प्यार भरा हाथ फेरतीं। यह प्यार भरा हाथ उसकी उम्र बढ़ाता। समय का पहिया घोर दारिद्र्य के बावजूद, हमारी जिन्दगी को धकेलता रहा। मैं गाँव के स्कूल में आठवीं कक्षा तक पढ़ा और मैंने इन्टर दस मील दूर नगर के कॉलिज से उत्तीर्ण किया। दादा की अनिच्छा के बावजूद, मैंने

यूनीवर्सिटी में प्रवेश लिया। रात को रिक्शा चलाता, यूनीवर्सिटी की फीस देता और किसी प्रकार अपना खाना जुटाता। चार वर्ष के ये खट्टे-मिट्ठे अनुभव आज भी जिन्दगी दे जाते हैं।

गांधी की आंधी बड़े ज़ोर से देश में उठ रही थी। इन्कलाब ज़िन्दाबाद के नारों ने राष्ट्र में जीवन फूंक दिया था। लेकिन मेरा युवा मन गांधी में रमा नहीं। क्रान्तिकारी गतिविधियाँ मुझे रुचिकर लगतीं, मुझे जीवन देतीं। अंग्रेजों के अत्याचार के विरुद्ध मेरा दिल प्रतिशोध की आग से धधकता। बंगाल क्रान्ति की दीप शिखा जलाए था। पंजाब, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में यह आग खूब ज़ोरों से भड़की। अंग्रेजों की हत्याएं पढ़कर हमारे दिल बांसों ऊपर उछलते। बिस्मिल, भक्तसिंह और आज़ाद के खून का बदला लेने की हम कुछ नौ जवानों ने शपथ खायी। एक रात एक पुलिस सबइन्सपेक्टर पर हमने हमला किया और उसका रिवॉल्वर लेकर गायब हो गए। उसी रात एक अंग्रेज ऑफीसर को गोली मार दी। सारे शहर में सनसनी फैल गयी। माँ की बीमारी का पत्र पढ़कर, मैं घर चला आया।

सन-सन करती हवा, मन को कम्पित कर देने वाली बिजली की तड़क और आसमान में घिरे कजरारे बादल जैसे आकुल हों अपनी दुलहिन का घूंघट उठाकर उसके संतप्त मानस की प्यास बुझाने के लिए। खेत में खड़े हुए किसानों के दल इन जलधरों से याचना कर रहे थे और मछुए अथाह जल में पड़ी हुई नावों में बैठे हुए धरती के राजा को उनकी दुलहिन का दु:ख-दर्द सुना रहे थे और सचमुच बादलों ने अपनी दुलहिन का घुंघटा उठाकर उसे हरा-भरा कर दिया। मूसला धार वर्षा। चारों ओर पानी ही पानी। आकाश पखेरू भी पेड़ों की गोद में जा छिपे थे। पानी पर तैरती हुई लक्ष्य-विहीन बिन मांझी की बच्चों की नाव उन्हें प्रतिद्वन्द्वी बनाए थी। बच्चे खोए थे अपने इस व्यौपार में। अचानक पानी रुक गया। किसानों के समूह खेतों में बिखर गए। जल्दी जोतने की उनकी उत्कट लालसा को साकार रूप देने के लिए उनके मूक साथी उनके साथ तेज़ी से कदम बढ़ा रहे थे। दिन ढलते-ढलते रात हो गयी। किसान लौटने लगे अपने घरों को। पानी फिर बरसना शुरू हो गया। जैसे-जैसे काली रात बढ़ती वैसे-वैसे पानी में तेज़ी आती। ऐसा लगता जैसे पानी आज बरसकर फिर बरसना नहीं चाहता।

बाबा ने कहा, "रामदीन, नीना अभी तक नहीं आयी।"

"नहीं, लेकिन गयी कहाँ? वह तो मुझसे पहले ही खेत से चली आयी थी।" दादा ने उत्तर दिया।

"मैं जाकर देखता हूँ, बाबा।" मैंने कहा।

मैंने चारों ओर जाकर दूर-दूर तक देखा। उसे उन सूने खेतों में आवाज़ लगाता। मेरी आवाज़ फैल जाती दूर क्षितिज तक किन्तु उत्तर-विहीन। तीन घंटे के बाद, निराश होकर घर लौट आया।

माँ ने कहा, "वह कहती थी कि --- ।" और चुप हो गयीं।

"क्या कहती थी बोलो न, माँ?"

"ज़मीदार का लड़का रघु उसे छेड़ता है।"

"क्या कहती हो माँ? उस पिशाच की यह हिम्मत कि मेरी बहिन .....। हम गरीब है लेकिन इज्ज़त नहीं बेची। मैं खून पी लूंगा उसका। तुमने पहले क्यों नहीं बताया?"

मैं पागल-सा कोठे में घुसा और रिवॉल्वर लेकर चलने लगा। माँ ने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा, "तेरा माथा खराब हुआ है क्या?"

"मैं जानता हूँ मां, तुम ज़मीदार से डरती हो। वह बड़ा आदमी है इसी से डरती हो न। किसान यदि ज़मीदारों के अत्याचारों के खिलाफ़ बगावत करते तो आज उनकी यह मरणासन्न स्थिति नहीं होती। अन्याय सहना भी माँ, पाप है।"

"मैं यह नहीं कहती कि तुम अन्याय सहो। अन्याय का ज़बरदस्त प्रतिकार होना चाहिए। तुम अपने बाबा को नहीं जानते जिन्होंने जीवनभर ज़मीदार के खिलाफ बगावत की। चाहे टूट गए पर कभी झुके नहीं। तुम्हारे खून में गर्मी है और क्रोध बहुत आता है। नीना को आ जाने दो, तभी ......।"

इतने में अचानक किसी की पद-चाप सुनाई दी।

"कौन है रे?" बाबा चिल्लाए।

"मैं।" नीना की आवाज़ थी और वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। जाकर देखा तो अचेत पड़ी थी। उसके सारे कपड़े फटे थे। मेरा खून खौल उठा। उसे गोद में उठाकर खाट पर लिटा दिया। माँ उसके मुंह पर पानी के छीटें लगाने लगीं। थोड़ी देर के बाद, उसने आंखें खोलीं। लेकिन देख न सकी और सिसकियाँ भरने लगी।

मैंने कहा, "नीना, बताओ क्या बात है? डरो नहीं, दादा कुछ नहीं कहेंगे।"

"मैं जब खेत से लौट रही थी तो रघु रास्ते में मिल गया। नज़दीक आने पर उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैंने उसके हाथ में काट लिया और हाथ छुड़ाकर भागी। वह भी मेरे पीछे भागा और फिर पकड़ लिया। इतने में, मनुज भी आ गया और दोनों ने मुझे कसकर पकड़ लिया। मैं बहुत चीखी लेकिन छोड़ा नहीं और अपने साथ ले गए।" इतना कहकर उसने अपना मुंह ढक लिया और सिसकने लगी।

मेरा खून उबलने लगा। दादा ने हाथ में गडांसा ले लिया और उनकी आंखों से खून टपकने लगा।

मैंने कहा, "दादा, आप नहीं, मैं जाता हूँ। नीना की इज़्ज़त तो मैं वापस नहीं ला सकता लेकिन ज़मीदार का विनाश ला सकता हूँ। माँ, तुम्हारे चरणों की सौगन्ध खाके कहता हूँ कि बहिन का बदला ऐसा लूंगा कि उसका नाम लेवा और पानी देवा भी कोई नहीं रहेगा। अब मुझे आशीष दो।"

रघु की मौत मेरे सामने नाचने लगी और मेरे पग उसकी हवेली की ओर तेज़ी से चलने लगे। अचानक मैं रुक गया। रघु और मनुज की आवाज़ मेरे कानों में आने लगी। मैं थोड़ा पीछे हट गया। दोनों एक दुकान पर जाकर खड़े हो गए। मेरी गोली रघु के सिर में जा घुसी। वह गिर पड़ा। मनुज दुकान के भीतर भागा लेकिन घुस न सका, सिर में गोली खाकर वहीं लुढ़क गया। समीप़ जाकर मैंने एक-एक गोली उनके सीने में और मार दी।

और फिर नदी के उस पार फैले उन भयंकर टीलों में जा छिपा। कभी उन दुर्दान्त खन्दकों से नफरत थी लेकिन आज उनसे दोस्ती करने चला था। सदा के लिए उन्हें अपना जीवन साथी बनाने की सोची थी। उनकी ओर जाने की तो बात दूर इनके नाम से लोग कांप उठते थे। दस्युराज योगेश का नाम इन टीलों में गूंजता था। पुलिस के न जाने कितने अधिकारियों और कॉन्स्टेबिलों को यह मौत के घाट उतार चुका था। ये टीले अजेय थे।

मेरे कानों में अभी नीना की सिसकियों की आवाज़ आ रही थी। अचानक एक भीमकाय व्यक्ति मेरे सामने आकर खड़ा हो गया और बोला, "कौन हो तुम?"

"तुम्हारा एक साथी।"

"क्या चाहते हो?"

"तुम्हारे साथ रहना।"

"तुम्हें ज़िन्दगी से प्यार है।"

"नहीं।"

"मौत तुम्हें कैसी लगती है?"

"साधारण।"

"मौत से तुम्हें दोस्ती करनी है तो हमारे साथ चले आओ और यदि लौटना चाहते हो तो लौट सकते हो।"

"मुझे आपके साथ चलना स्वीकार है।"

"तुम्हारे साथ और कोई है।"

"नहीं।"

"तुम्हारे पास कोई हथियार है।"

"हाँ।"

"जाओ, इनसे हथियार ले लो और इनकी आंखों पर पट्टी बांध दो।" उसने अपने साथियों को आदेश दिया।

चार छायाएं मेरी ओर आती हुई दिखाई दीं और उनमें से एक ने आकर मेरे हाथ से रिवॉल्वर ले लिया और मेरी आंखों पर पट्टी बांध दी। एक सप्ताह तक मेरी आंखों पर पट्टी बंधी रही। मुझे अच्छा खाना मिलता। मेरे स्वास्थ्य के बारे में एक डॉक्टर आकर पूछ जाता और सारे दिन मैं खूब सोता। आठवें दिन रात को मेरी पट्टी खोली गयी और मैंने एक विशालकाय, सुन्दर, सुगठित वृद्ध के सम्मुख अपने को पाया। मैंने अभिवादन किया। वृद्ध ने सिर हिलाकर मेरे अभिवादन को स्वीकति दी।

"क्या नाम है तुम्हारा?" वृद्ध ने कहा।

"गौतम।"

"यह ज़िन्दगी तुम्हें पसन्द है।"

"जी हाँ।"

"तुम तो शिक्षित हो।"

"जी हाँ।"

"क्या पास किया है?"

"एम.ए. की परीक्षा दी है।"

"किस विषय से।"

"अर्थ शास्त्र से।"

"आज तुम्हारा परीक्षाफल निकला है, लो देख लो।"

मैं परीक्षाफल देखने लगा। मेरे चेहरे पर मुस्कान देखकर वृद्ध बोला, "पास हो गए।"

"जी हाँ, प्रथम श्रेणी में।"

"लेकिन हर्ष-विषाद का कितना गहरा मज़ाक तुम्हारी ज़िन्दगी के साथ। इस जीवन को अपनाने का मूल कारण।"

मैंने नीना की घटना सुना दी और मैं क्रोध से कांपने लगा।

"देखो, पीछे तुम्हारी बहिन की चिता जल रही है। उसने आत्महत्या कर ली थी। और वह खेत तुम्हारा है जिससे लपटें निकल रही हैं, ज़मीदार ने आग लगवा दी है। तुम्हारे पिता थाने में हैं और इतना बुरी तरह पीटा गया

है कि तीन दिन से अचेत हैं। उनके बचने की कोई आशा नहीं। तुम्हारी माँ और बाबा को ननिहाल सुरक्षित पहुंचा दिया गया है।"

मेरे खून में उबाल आ गया। मैं क्रोध से काँपने लगा और बोला, "मुझे मेरा रिवॉल्वर चाहिए और जाने की आज्ञा।"

"तुम्हारी अभी प्यास बुझी नहीं।"

"नहीं।"

"क्या चाहते हो?"

"ज़मीदार का पूर्ण विनाश।"

इतने में एक व्यक्ति ने आकर वृद्ध को अभिवादन किया।

वृद्ध ने प्रश्न किया, "क्या सूचना है?"

"गाँव में एक थानेदार और पांच सिपाही हैं।"

"तीस आदमी ले जाओ। गौतम आज के इस अभियान का नेतृत्व करेगा। और ज्योतिषी जी की आज्ञा ले ली है।"

"जी हाँ।"

मेरी ओर वृद्ध ने देखते हुए कहा, "गौतम आज अपनी प्यास बुझालो। तीसों आदमी अपनी कला में पारंगत और पांच इनमें हमारे दल के कमाण्डर हैं। इनके परामर्श को मानना। नौ बजे तक इन खन्दकों से निकल जाओ। और देखो, सामने 'काली माँ' का मंदिर है पूजा करके जाना।"

"यशवन्त, गौतम को ले जाओ। खाना खाने के बाद, पांचों कमाण्डरों और अन्य साथियों से इनकी मुलाकात कराओ।"

मैं वृद्ध को प्रणाम कर चल दिया। वृद्ध ने मुझे आशीष दिया।

तीस घोड़े उन खूंखार खन्दकों से निकलकर हवा से बातें करने लगे। दस घुड़सवार गाँव की परिक्रमा करने लगे। पांच घुड़सवार गांव की गलियों में बिखेर दिए गए। उन्हें आदेश था कि गाँव में गोली की आवाज़ सुनते ही हवाई फायरिंग करते रहें। दो आदमी पुलिस कहाँ है, जानने के लिए भेजे गए? सूचना मिली कि सिपाही और थानेदार ज़मीदार की हवेली में खाना खा रहे हैं। तुरन्त हवेली चारों ओर से घेर ली गयी। मैं पांच साथियों को लेकर हवेली में घुसा और ज़मीदार, उसके दो लड़के, थानेदार और पांचों सिपाही भून दिए गए। दो लड़कियों और ज़मीदार की पत्नी को भी गोली मार दी गयी। पांच राइफलों, चार बन्दूकों, दो रिवॉल्वर और प्रचुर मात्रा में धन-राशि और आभूषण लेकर हम उन भयंकर टीलों की ओर लौट पड़े। गाँव में कोई प्रतिरोध नहीं हुआ। इतनी बड़ी सामूहिक हत्या जीवन में पहली

बार। ज़िन्दगी में नया मोड़ आ गया। डकैती का जीवन। लूट और हत्या प्रतिदिन का काम हो गया। मनुज का परिवार गाँव छोड़कर भाग गया।

एक डकैती में सरदार को गोली लगी और मरने से पहले उसने मुझे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। इन टीलों में मेरी आवाज़ गूंजती। नदी के सुदूर तक फैले हुए ये दर्रे मेरी कहानियों की चर्चा के विषय बन गए। मेरी वीरता, उदारता, बौद्धिक कुशलता और संगठन-शक्ति का लोहा शासक और शासित सभी मानने लगे। गौतम के नाम का सर्वत्र आतंक था। इन दस वर्षों में कितनी हत्याएं, लूट, कितने गाँव उजाड़े और उनमें आग लगायी इनका कोई लेखा नहीं। लेकिन हाँ, मैंने किसी नारी के सतीत्व को नष्ट नहीं किया। किसी गरीब को नहीं सताया। समाज का शोषक वर्ग ही मेरी आंख में सदा खटकता रहा। मुझ पर सरकार द्वारा घोषित इनाम कभी कोई प्राप्त न कर सका।

जानती हो मेरी जिन्दगी में एक नए अध्याय का सूत्रपात कैसे हुआ? कैसे मेरे विचारों को एक नया मोड़ मिला? जब हम एक गाँव में डकैती डालने के लिए घुसे तो एक लडकी बीस वर्ष की रही होगी मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। मुझे ऐसा लगा जैसे [illegible] को देख रहा हूँ।

मैंने कहा, "क्या चाहती हो?"

"आपका नाम गौतम है।"

"हाँ।"

"आप ही साहू जी के यहाँ डकैती डालने जा रहे हैं।"

"हाँ"

"आपका नाम कितना सुन्दर लेकिन आपके कर्म? क्या कभी सोचा है? गौतम इस विशाल देश का मसीहा रहा जिसने जन-कल्याण के लिए अपने सुखद जीवन, रूपवती पत्नी, नन्हे-से राहुल और शासन-सत्ता को छोड़ दिया। विश्व को शान्ति का पाठ पढ़ाया। सम्राट् अशोक जैसा रक्त-पिपासु भी हिंसा को त्यागकर उसका भक्त हो गया। इस देश को गौतम ने अमरत्व दिया, किन्तु एक आप। नाम एक, पर अन्तर दोनों के कर्मों में कितना? एक शान्ति का प्रतीक तो दूसरा हिंसा और बर्बरता का, एक के प्रति समाज की निष्ठा तो दूसरे के प्रति घृणा, एक ने रचना की तो दूसरे ने विनाश। कौन महानतर? आज गौतम एशिया के अनेक राष्ट्रों का उपास्य बना है और आपका नाम इस अंचलीय इतिहास के पृष्ठों पर विनाश के लिए कब तक याद किया जाएगा? मुश्किल से तब तक जब तक आप से अधिक और कोई अन्य आततायी पैदा नहीं होता। जीवन का महत्व विनाश में नहीं रचना में है, घृणा में नहीं प्रेम में है। यह दुःखियों का देश जहाँ घोर गरीबी, निरक्षरता, दासता, और शोषण है, उसे द्विगुणित क्यों करते हो? तुम और साहू में क्या अन्तर

है? वह भी शोषक और तुम भी। लेकिन अराजकता अराजकता को पैदा करती है। क्या आतंक कभी प्रेम पैदा कर सकता है? गांधी बिना हथियारों के सशक्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद से जूझ सकता है। क्या तुम बिना हिंसा के सामन्तवाद और पूंजीवाद का उन्मूलन नहीं कर सकते? मेरी आत्मा कहती है, "गौतम मेरा भाई है। और मेरा गौतम भगवान गौतम है।" जानते हो भगवान ने एक पीड़ित हंस के दु:ख-दर्द को पहचाना था और उसकी रक्षा की थी। तुम भी सन्तप्त समाज के दु:ख को चीन्हों और दूर करो। लौट जाओ और तथागत के चरणों में जाकर प्रायश्चित करो। भगवान तुम्हें क्षमा कर देंगे। इन गाँवों में आग ही लगानी है गौतम, तो शान्ति और अहिंसा की आग लगाओ। मेरा प्रणाम है तुम्हें।"

इतना कहकर वह लड़की गांव की ओर लौट गयी। मैंने घोड़े को मोड़कर, साथियों से कहा, "लौट चलो टीलों की ओर।" सभी आश्चर्यान्वित हो गए।

प्रायश्चित स्वरूप मैं आठ दिन तक व्रत और काली माँ की पूजा में लीन रहा। और अन्तत: 'डकैती जीवन का परित्याग' मेरा यह दृढ़ निश्चय हो गया। साथियों के तर्क और प्रेम मेरे विश्वास को डिगा नहीं सके। उनकी बुद्धि, मेरी बात समझ न सकी क्योंकि उन्हें अभी जीवन से मोह था। उनका कहना था, "इन दुर्दान्त टीलों के बाहर हमारे लिए फांसी के तख्ते झूल रहे हैं। हमारे हाथ अनेक हत्याओं, लूट और आग से सने हैं। कानून की नज़र में हम अपराधी हैं। इन अपराधों की सज़ा एक है और वह है फांसी। जान बूझकर कुत्ते की मौत को आमंत्रित करने में कौन सी बुद्धिमानी है? सामाजिक जीवन अब हमारे दूसरे जीवन की बात है।"

मेरा तर्क था, "तुम्हें राष्ट्र की अपेक्षा अपने जीवन से अधिक ममत्व है। जब हम समाज का निर्माण नहीं कर सकते तो उसका विनाश करने का भी हमें कोई अधिकार नहीं है। समाज को विश्रृंखलित करना भी तो एक जघन्य अपराध है। केवल अपनी उदरपूर्ति के लिए ही तो हम ये सब कुछ करते हैं। एक ओर उन देशभक्तों को देखिए जो अपना सब कुछ खोकर राष्ट्र के लिए अपने प्राणों की आहुति देते हैं। हंसते-हंसते फांसी के तख्ते को चूम लेते हैं और चूमने वालों की एक कतार खड़ी कर देते हैं। इतिहास उन्हें प्यार करता है। जब वे राष्ट्र के लिए फांसी के तख्ते को चूम सकते हैं तो क्या हम राष्ट्र के लिए फांसी के तख्ते का चुम्बन नहीं कर सकते? किसी को भून देने में कौनसी बहादुरी है। बहादुरी है प्रेम करने में, त्याग करने में और समाज को बनाने में। यूनान के महान् राजनीतिक विचारक सुकरात ने हंसते-हंसते ज़हर का प्याला पीना पसन्द किया था और जेल से भागकर प्राणों की रक्षा का प्रस्ताव ठुकरा दिया था क्योंकि वह जानता था कि इससे देश में अराजकता फैल जाएगी। उसे अपने राष्ट्र से प्यार था जीवन से नहीं। भूल तो सभी से होती है और अपराध भी, किन्तु जब अपराध की अनुभूति

हो जाए तो उसे छोड़कर सज्जीवन को अपनाना चाहिए। सम्राट् अशोक से भी तो भूल हुई थी। कलिंग में उसने भी तो असंख्य हत्याएँ की थीं। लेकिन बाद में, उसने भी इन हत्याओं के लिए प्रायश्चित किया और हिंसा के मार्ग को सदा के लिए छोड़ दिया और तभी महान् कहलाया। अशोक ऐसा कर सकता है, क्या हम नहीं कर सकते? पाँच सौ आदमी जब इन बीहड़ घाटियों से निकलकर स्वेच्छा से आत्म-समर्पण करेंगे तो जनता को विचार करने का एक अवसर मिलेगा। उसके हृदय में स्नेह के भाव अंकुरित होंगे। जन-समुदाय यदि हमें स्नेह कर लेता है तो हमारे जीवन की कालिमा मिट जाएगी। डकैती के इतिहास को हम एक नया मोड़ दे देंगे।"

लेकिन मेरे तर्क उन्हें प्रभावित नहीं कर सके और अन्त में, एक दिन मैंने उन घृणास्पद टीलों को छोड़ दिया और विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य करने लगा।

और तुम्हें ध्यान है जब मैंने तुम्हें छोड़ा था तो मुझे उस दिन एक पत्र मिला था। नीलिमा बनर्जी का वह पत्र था। उसमें लिखा था कि पुलिस मेरे पीछे है। और तुम मेरे कारण किसी संकट में न पड़ जाओ इसलिए मैंने तुम्हें छोड़ना ही उचित समझा। अनेक बार मेरे मन में आत्म-समर्पण कर देने का विचार उठा लेकिन न जाने कौन मुझे ऐसा करने से रोकता है?

यह सब सुनकर वनिता विचारमग्न हो गयी।

भिक्षु ने कहा, "लाओ, भिक्षा दो।"

"अब मैं जाने न दूंगी।"

"क्या करोगी मेरे इस पार्थिव शरीर का? इतना मोह इस नश्वर देह से। जिस पर अपना अधिकार न हो उससे क्या ममत्व? तथागत की कंचन काया बच न सकी क्रूर काल से। उसने डस लिया इस धरती के जीवन-धन को। जो जीवन भर अहिंसा का प्रवचन करता रहा, जिसने चलना सिखाया अहिंसा की इस टेढ़ी-मेढ़ी डगर पर और सचमुच जिसने पृथ्वी से हिंसा को मिटा दिया और प्यार की गगरी उड़ेल दी, वही अहिंसक बर्बर काल की क्रूरता का शिकार हुआ। विश्व के प्राणी विलखते रहे, सिसकते रहे और सो गए हज़ारों सदा के लिए इस गहरे विषाद से, किन्तु, उसका पत्थर दिल पिघला नहीं। भगवान को अंक में समेटे, चिता धू-धू जल गयी, शोक की काली छाया छा गयी। भूतल अनाथ हो गया और वह अपना क्रूर अट्टहास करता रहा।

हिंसा अहिंसा को खा गयी। नैतिकता के प्रवचन और मानव के विनाशकारी शस्त्र इस हिंसक के सम्मुख सब फीके पड़ गए। धरती के प्राणी हतप्रभ, निस्तेज और किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए।

काश! यह महादानव अहिंसक हो जाता तो यह वसुन्धरा स्वर्ग बन जाती।

लेकिन कौन है वह जो इस प्रकार जीवन के साथ खिलवाड़ करता है?

आओ चलें, खोजें उसे, कौन वह संघातक है?"

और फिर वे दोनों चले गए हिमालय की ओर उस क्रूर काल की खोज में।

डॉ वेदव्रत शर्मा जे.एस. हिन्दू कॉलिज अमरोहा में प्राचार्य (1970- 72) और रीडर एवं अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग (1960-1988) रहे हैं।

वे आगरा विश्वविद्यालय, आगरा की सीनेट (1970-72) के सदस्य और रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली की पाठ्य समिति एवं शोध उपाधि समिति के संयोजक रहे हैं।

वे आगरा एवं रुहेलखण्ड विश्वविद्यालयों में पी-एच.डी. - उपाधि प्राप्त प्रत्याशियों के पर्यवेक्षक भी रहे हैं।

डॉ शर्मा ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की (COHISSIP) योजना के अन्तर्गत जे.एस.हिन्दू कॉलिज, अमरोहा में 3,4,5 नवम्बर 1989 को आयोजित संगोष्ठी - "समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम - एक मूल्यांकन" के राजनीति शास्त्र सत्र की अध्यक्षता की।

डॉ शर्मा की अधोलिखित रचनाएं हैं–

1. आधुनिक राजनीति की चिन्त्यधाराएं (1960)
2. जवाहरलाल नेहरू : एक समाजवादी दार्शनिक (डी लिट् - शोध प्रबन्ध) (1991)
3. जयप्रकाश नारायण को एक पत्र (29 अगस्त 1977) (1991)

उनका संक्षिप्त जीवन चरित हिन्दी साहित्य एकेडेमी के WHO's Who of Indian Writers, 1983 और Biography International Vol. I & II, Men & Women of Achievement & Distinction, 1988 और Learned Asia, 1992 में प्रकाशित हुआ है।

सम्प्रति डॉ शर्मा रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय में पी-एच.डी.- शोधार्थियों के पर्यवेक्षक हैं।

लेखक की नवीनतम रचनाएँ –

- जवाहरलाल नेहरू : एक समाजवादी दार्शनिक (दिसम्बर 1991)
- जयप्रकाश नारायण को एक पत्र (29 अगस्त 1977) (जनवरी 1992)

लक्ष्मी प्रकाशन संस्थान